आदिवासी संगीत विचार

आदिवासी संगीत विचार

सन्दर्भः राठवा-भील समाज

प्राची वैद्य-दुबळे

भारतीय उच्च अधययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला

First published 2023
© Indian Institute of Advanced Study, Shimla

All rights reserved.
No part of this book may be reproduced
or transmitted, in any form or by any means,
without the written permission of the publisher.

ISBN: 978-93-82396-90-1

Published by
The Secretary
Indian Institute of Advanced Study
Rashtrapati Nivas, Shimla-171005

Typeset at:
Sai Graphic Design, New Delhi

Cover Artwork by Geetu Klair @ge2klair Instagram handle

Printed at Dipi Fine Prints, New Delhi

राठवा भीलों को समर्पित

कारियुं सेतर सेयडुं रे, मोवासी नो भिलडो
ओयरो जुवार उग्यो बाजरो रे, मोवासी नो भिलडो!

–पारंपरिक राठवी गीत

(अरे ओ मेवास में रहने वाले भील! तूने काली मिटटी से भरी सख्त जमीन की जुताई कर जवार बोई, पर देख तो! वहाँ बाजरा उग आया है!)

अनुक्रम

आभार	ix
भूमिका	xi
प्रस्तावना	xvii
1. आदिवासी संगीत : कला एवं शास्त्र विचार	1
2. राठवा-भील समाज : इतिहास, संस्कृति एवं संगीत	17
3. वाद-विवादों से घिरा आदिवासी संगीत : कुछ प्रश्नोत्तर	45
4. अनुभव	73
सन्दर्भ सूची	89
टिप्पणियाँ	93

आभार

आप सभी के अमूल्य मार्गदर्शन एवं सहयोग के बिना इस अभ्यास का आगे बढ़ना असंभव था।

हृदय से ऋणी हूँ, आप सभी की।

प्रोफेसर गणेश देवी,

स्व.प्रोफेसर अशोक दा रानडे,

स्व.प्रोफेसर सतीश बहादुर,

प्रोफेसर चेतन सिंह,

प्रोफेसर आदित्य प्रताप देव,

प्रोफेसर समीर दुबळे,

प्रोफेसर प्रवीण भोळे,

प्रोफेसर वृन्दावन वैद्य,

भाषा संशोधन केंद्र एवं तेजगढ़ आदिवासी अकादमी परिवार, गुजरात

और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के सभी सदस्यों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

भूमिका

मूल अंग्रेजी – आदित्य प्रताप देव
हिंदी अनुवाद – रमाशंकर सिंह

FOREWORD

In the period 2016-18, Prachi and I were part of an extended family of scholars and staff at the Indian Institute of Advanced Study in Shimla, where, as 'Fellows', we were pursuing research in areas of our choosing, areas that we were passionate about and in which we were deeply invested. Prachi's work was on the music of the Rathwa Bhils. Every once in a while, during the many social, and even sometimes academic, occasions, when we would meet, and the atmosphere was collegial and relaxed, Prachi would gently hum a tune or a song we would immediately get riveted by. As an accomplished artist of music, her repertoire of genres was impressive, from serious classical to *thumris* and *ghazals*, from folk to even various kinds of western pieces. And she sang them all at once with equal profundity and ease. Of all these genres she sang, we were arguably the least familiar with adivasi music, but never did we feel her immersion in and therefore our own connection with it, to be any less. I believe that this is evidence of the fact that we have an inherent capacity to understand each other across our differences if we want to.

Prachi's 'monograph' is about forging connections across cultures at a time when, despite the revolution in the technology of communication, conversations are breaking down and the world is increasingly getting divided. More specifically, wanting to understand the meanings behind adivasi music – and it is of many kinds

–and to engage with it as a serious artistic expression when it has historically been demoted by mainstream culture, Prachi's work is at a more philosophical level a meditation on the possibilities of dialogue between societies.

In these pages, you will find first of all a sincere attempt by a musician to delve into various aspects of the music of the adivasi peoples that can help us understand it better. Prachi takes up the much discussed but yet unresolved questions about the nature of adivasi music, its origins and developments, contexts and rhythms, relationships with histories and the issues of change and continuity, and so on, even as she examines in this context the more fundamental concepts of sound, music, art and adivasi, among others, showing us how these categories are hardly as settled as they look. At the same time, as a reflective ethnographer, Prachi interrogates her own predicaments, laying open interconnected anxieties relating to voice and agency, the self and the other, and representation and translation, in the process demonstrating both the heterogeneity of being and its irreducibility.

By no means does Prachi claim a comprehensive coverage of all the issues at hand, nor endeavors to close the issues she grapples with as final statements on these themes. In fact she is opening several discussions, perhaps even provoking them, so that scholars interested in the music of adivasi communities and related areas can begin painting a more complex and nuanced picture. Prachi's narrative seamlessly blends aspects of a diary, a memoir, an interview and ethnographic writing into a monograph, at once evoking the energy of the field and gesturing to the deep questions that lie underneath. Like the music that Prachi shared with us at the Institute, her thesis here is an invitation to join her, and others scholars like her, in a journey we must all undertake in understanding our diverse yet connected world a little more empathetically, even if this world sometimes overwhelms us with its bewildering variety and seeming unfamiliarity.

Aditya Pratap Deo

St Stephen's College, Delhi
April 2022

प्राची और मैं साल २०१६ से २०१८ के दरमियाँ भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के विद्वानों और कर्मचारियों के एक मिले-जुले परिवार का हिस्सा थे। वहाँ 'फेलो' के रूप में हम अपनी अपनी पसंद के क्षेत्रों में अनुसंधान कर रहे थे। हम सब अपने अपने शोध में उत्कटता और गहराई से डूबे हुए थे। प्राची का काम राठवा-भील आदिवासियों के संगीत पर था। कई सामाजिक और अकादमिक अवसरों पर जब भी मिलना-जुलना होता और माहौल चाहे औपचारिक होता या अनौपचारिक, उनमें एक बात अवश्य होती थी; प्राची हौले से एक धुन या कोई गीत गुनगुनाती, जिसे सुनकर हम सभी तुरंत प्रफुल्लित हो जाते थे। संगीत के एक कुशल कलाकार के रूप में उनकी शैलियों का प्रदर्शन बड़ा ही प्रभावशाली था। गंभीर शास्त्रीय संगीत से लेकर ठुमरी और ग़ज़ल तक, लोकगीत से लेकर विभिन्न प्रकार के पश्चिमी गीतों तक सभी को वह प्रवीणता और सहजता से गाया करती थीं। इन सभी विधाओं में से हम आदिवासी संगीत से सबसे कम परिचित थे, लेकिन प्राची इस संगीत में भी इस कदर डूबी रहती कि हम सभी भी आदिवासी संगीत के प्रति गहरा लगाव महसूस करते। मेरा मानना है, कि यह इस बात का प्रमाण है कि हम सभी के अन्दर अपनी भिन्नताओं के बावजूद एक-दूसरे को समझने की एक अंतर्निहित क्षमता होती है, बस समझने की चाह होनी चाहिए।

प्राची का मोनोग्राफ एक ऐसे समय में भिन्न भिन्न संस्कृतियों के बीच संबंध बनाने के बारे में है, जब संचार की तकनीक में बड़ी क्रांति के बावजूद हमारे संवाद बिखर रहे हैं और दुनिया तेजी से विभाजित हो रही है। विशेष रूप से अगर हम आदिवासी संगीत में निहित अर्थों को समझना चाहते हैं और इसे एक गंभीर कलात्मक अभिव्यक्ति से संलग्न करना चाहते हैं तो हमें क्या करना चाहिए? ध्यान रहे कि यह एक चुनौती है क्योंकि ऐतिहासिक रूप से मुख्यधारा की संस्कृति द्वारा इस संगीत और संस्कृति का अवमूल्यन किया गया है। ऐसे में प्राची का काम विभिन्न समाजों के बीच संवाद स्थापित करने हेतु दार्शनिक स्तर पर हस्तक्षेप करता है।

आगे के पृष्ठों में पाठक सबसे पहले एक बेहद गंभीर प्रयास

से परिचित होंगे जिसमें एक संगीतज्ञ ने आदिवासियों के संगीत के विभिन्न अनछुए पहलुओं को समझने में मदद की है। प्राची के शोध में आदिवासी संगीत को लेकर चर्चित रहे लेकिन अनसुलझे हुए कई प्रश्न सामने आते हैं, आदिवासी संगीत का आरम्भ और उसकी विकास यात्रा, सन्दर्भ और लय, इतिहास से सरोकार, और परिवर्तन और निरंतरता के कई मुद्दे यहाँ मौजूद हैं। इन सबके अलावा यहाँ कई और मूलभूत संकल्पनाएँ जैसे ध्वनि, संगीत, कला और आदिवासी, और इन मुद्दों के भीतर बनने बिगड़ने वाले विवादों को नज़दीक से परखा गया है। साथ ही एक चिंतनशील नृवंशविज्ञानी की तरह प्राची अपनी स्वयं की समस्याओं से संवाद जारी रखती हैं। वह चाहे लेखक के तौर पर उनकी अपनी आवाज या विषय में उनके हस्तक्षेप का प्रश्न हो या स्व और भिन्न, अथवा प्रतिनिधित्व और अनुवाद से संबंधित चिंताओं का प्रस्तुतीकरण हो, लेखक ने इस प्रक्रिया में निर्माण होने वाली विविधता और इसकी अपरिवर्तनीयता दोनों का प्रदर्शन किया है।

परन्तु प्राची किसी भी तरह से सभी मुद्दों के व्यापक समावेशन का दावा नहीं करती हैं, न ही उन मुद्दों से जूझते हुए वह किसी अंतिम निष्कर्ष पर पहुँच कर इन सारे प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास करती हैं। वास्तव में वे कई चर्चाओं की शुरुआत कर रही हैं, शायद इन चर्चाओं में एक नयी नई जान फूँक रही हैं। ताकि आदिवासी समुदायों और संबंधित क्षेत्रों के संगीत में रुचि रखने वाले विद्वान इस विषय का एक अधिक जटिल और सूक्ष्म चित्र बनाना शुरू कर सकें। प्राची की कथा मूल रूप से एक डायरी भी है, एक संस्मरण भी और एक साक्षात्कार भी। नृवंशविज्ञान लेखन के इन सारे पहलुओं को अपने मोनोग्राफ में मिश्रित करते हुए वह एक ओर विषय की ऊर्जा को उजागर करती हैं और साथ ही इस विषय के तल में बैठे हुए गहरे प्रश्नों की ओर भी ध्यान आकृष्ट करती हैं। प्राची ने संस्थान में हमारे साथ जिस प्रकार संगीत साझा किया था, उसी प्रकार से यहाँ पर वे हमें उनके संगीत-विचार से जुड़ने का निमंत्रण देती हैं। यह निमंत्रण है उनके जैसे कई अन्य विद्वानों की एक सहयात्रा से जुड़ने का। वह यात्रा जो हम सभी को भी अपनी अलग अलग लेकिन फिर भी एकदूसरे से जुड़ी

हुई दुनिया को थोड़ा और सहानुभूतिपूर्वक समझने के लिए शुरू करनी चाहिए; फिर भले ही उस दुनिया से हम थोड़े अपरिचित ही क्यूँ न हो, वो दुनिया जो हमें अपनी विस्मयकारी विविधता से अभिभूत कर देती है!

आदित्य प्रताप देव

सेंट स्टीफेंस कॉलेज, दिल्ली,
अप्रैल, २०२२

प्रस्तावना

> संगीत हमेशा अपने उद्गम से निकलकर अपनी नियति की ओर बहते हुए किसी व्यक्ति के क्षणभंगुर अनुभव में जाकर समा जाता है।[१]
>
> –एलेक्स रॉस, 'द रेस्ट इज नॉइज' की भूमिका में

क्या आपको लगता है कि आप आदिवासी संगीत के सिद्धांत लिख पाएंगी?

यह आखिरी प्रश्न था इंटरव्यू का, और इसे पूछते समय भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के तत्कालीन निदेशक प्रोफेसर चेतन सिंह के चेहरे पर एक मार्मिक मुस्कान थी। मैंने कहा: "सर, आज तक आदिवासी संगीत के सारे सिद्धांत मौखिक परम्परा में समाहित रहे हैं। आदिवासी स्वयं भी इन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप में ही बताते रहे हैं, पर अब समय है कि इस मौखिकता में जो शास्त्र निहित है, उसे भी हम देखें एवं उसे लिखने का प्रयास करें! मेरे आदिवासी मित्रों की भी यही मंशा है। मैं जानती हूँ कि मेरे पास पीएचडी जैसी कोई डिग्री अथवा शिक्षाविदों जैसा कोई दीर्घ अनुभव नहीं है किन्तु पिछले कई वर्षों से लगातार आदिवासी संगीत के दस्तावेजीकरण हेतु मैं अपने आदिवासी मित्रों के साथ भारत के दुर्गम इलाकों में घूम रही हूँ। इस संगीत की बुनावट (टेक्श्चर) और बनावट (स्ट्रक्चर) कैसे हैं, इसका आशय क्या है और इसका आकार कैसा है? इन सभी का एकदम समीप से अनुभव कर रही हूँ। केवल यही नहीं, इस संगीत यात्रा के दौरान मैंने बार-बार यह भी महसूस किया है कि न ही मेरे आदिवासी मित्र उतने 'आदिवासी' हैं, न ही मैं उतनी 'ग़ैर-आदिवासी'; मनुष्यता एवं संगीत

का धागा हमें अद्‌भुत तरीके से जोड़े हुए है। मैं चाहती हूँ कभी न कभी, कहीं न कहीं इस अनुभव को, इस अहसास को शब्दों में ढालूँ और प्रस्तुत करूँ 'आदिवासी संगीत-विचार' के रूप में।

प्रोफेसर चेतन सिंह ने कहा : 'ठीक है, आपका शुक्रिया'।

कुछ समय बाद जब मुझे अध्येता के तौर पर भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में आमंत्रित किया गया तब कुछ पल के लिए मैं अचंभित हुई, पर साथ ही साथ निदेशक महोदय एवं उनकी टीम ने मुझ पर भरोसा किया- इस अहसास से आनंदित भी हुई।

आदिवासी संगीतयात्रा शुरू हुई तब मैं बस एक गायक-कलाकार थी। तदुपरांत इस यात्रा के दौरान अनेक आदिवासी कार्यकर्ताओं के साथ स्वयं भी एक कार्यकर्ता बन कर काम करते हुए भिन्न-भिन्न आदिवासी भावभूमियों से गुज़री और अब तो मैं विद्वानों के संसार भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में प्रवेश करने जा रही थी! लगा कि जैसे बड़ा ग़ज़ब ढाने जा रही थी! पर यहाँ आकर देखा कि जिन तीन अवस्थाओं से मैं गुज़र रही हूँ - (आर्टिस्ट, ऐक्टिविस्ट, अकादमीशियन)। यह सारी अवस्थाएं केवल ऊपर-ऊपर से अलग-थलग दिखती हैं, किन्तु वास्तव में एक दूसरे से जुडी हुई हैं, संश्लिष्ट हैं। आदिवासी इलाकों में एक कार्यकर्ता का अनुभव किसी विद्वान की लेखनी से सिद्धांत बनकर उभरता है तो दूसरी ओर, एक कलाकार इसी अनुभव को गीत में ढालने की कोशिश में लग जाता है। यही कारण है, इस संगीतयात्रा का हर मकाम मेरे लिए बड़ा ही दिलचस्प रहा।

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में आकर अभ्यास शुरू करते ही अगला प्रश्न उपस्थित हुआ कि मेरे मोनोग्राफ (विनिबंध) का स्वरूप कैसा हो? यह बात तो स्पष्ट है कि इस मोनोग्राफ का मुख्य उद्देश्य है; आदिवासी संगीत के कला सिद्धांतों को प्रस्तुत करना, परन्तु कोई भी कला अभ्यासक स्वाध्याय, स्वानुभव एवं स्वानुभूति के बिना कला-सिद्धांतों की चर्चा नहीं कर सकती। यही कारण था, मैंने संस्थान से बिनती की कि मैं अपना मोनोग्राफ एक 'मोनोलॉग' अर्थात स्वगत-भाषण के रूप में लिखना चाहती हूँ। जैसे ही मैंने यह बात सामने रखी, एक क्षण का भी विलम्ब किए बिना प्रोफेसर चेतन सिंह

ने कहा : 'आपका आशय एक पर्सनल नैरेटिव को प्रस्तुत करना है? यह शानदार बात है।' इतना ही नहीं, इस विषय के तानेबाने को ठीक से परख कर उन्होंने मुझे कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए। साथ ही संस्थान के कई अन्य अध्येताओं ने, जो आगे चलकर मेरे बहुत अच्छे मित्र बने, उन सभी ने असीमित सहयोग किया। उसी के चलते यह विनिबंध आज साकार हो पाया है।

प्रस्तावना के उपरांत यह विनिबंध चार प्रमुख अध्याय प्रस्तुत करता है।

आदिवासी संगीत : कला एवं शास्त्र विचार

यह अध्याय मेरी संगीतयात्रा के आरंभ को विस्तृत करने का प्रयास करता है, साथ ही संबोधित करता है इस विषय से जुड़े कुछ मूलभूत प्रश्नों को जैसे कि - आदिवासी कौन है? 'आदिवासी' इस संज्ञा को कब, क्यों और किस प्रकार गढ़ा गया? क्या आदिवासी समूहों की आवाज़ एवं ध्वनि से जुड़ी सौंदर्य अभिव्यक्ति को संगीत कहा जा सकता है? यदि हाँ, तो 'संगीत' क्या है? जो ध्वनि संगीत बनकर उजागर होती है, उस ध्वनि के गुणधर्म क्या हैं, कोई भी संगीत परम्परा किस प्रकार जन्म लेती है? 'कला एवं शास्त्र' इन परिभाषाओं की व्युत्पत्ति क्या है? विश्व के भिन्न-भिन्न संगीताचार्य एवं विद्वान् इन सारी संकल्पनाओं को किस प्रकार देखते हैं? आदिवासी संगीत की, आदिवासी संगीत कहलाये जाने तक की यह यात्रा कैसी है? आदिवासी संगीत के विशेष क्या हैं? एक मनुष्य, एक कलाकार एवं एक शोधक के तौर पर आदिवासी संगीत को अभ्यासना मेरे लिए क्यों आवश्यक है?

राठवा-भील समाज : इतिहास, संस्कृति एवं संगीत

इस अध्याय में राठवा समाज के जीवन के हर पहलू से जुड़े संगीत की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की गयी है। राठवा भील कौन हैं? अपने इतिहास को वे कैसे देखते हैं? उन्होंने स्वयं के इतिहास को संगीत में कैसे संजोया है? इनके गीतों द्वारा उजागर होने वाली संगीत-संस्कृति की मुख्य विशेषता, उदाहरणतया राठवा समाज के गीतों की स्वर-लय-शब्द

रचनाएँ कैसी होती हैं? गीतों के विषय क्या-क्या से होते हैं? सामूहिकता, निसर्ग देवताओं का आवाहन, प्रतीकात्मकता एवं रूपकात्मकता, देवों एवं राजाओं का मानवीकरण इत्यादि विषयों से जुड़ा संगीत, इसके उपरांत होली, दशहरा, दिवासो जैसे त्यौहार उत्सव, गेर-कलेश्वर जैसे मेले, जन्म-मृत्यु-विवाह के समय गाये जाने वाले गीत, खेती एवं श्रम परिहार के गीत, मनुष्य का मनुष्य से- समाज से एवं कुदरत से जो सम्बन्ध है, उसे उजागर करने वाले गीत, देवी-देवताओं की आराधना के गीत, मान्यता - आस्था एवं जीवन दर्शन से भरे गीत, दैनंदिन जीवन में गाये जाने वाले कई और प्रकार के गीत, इन गीतों की भाषा की बुनावट, उनके काव्य-विषय तथा वाद्य रचना, इन गीतों की स्वर-लय रचना, राठवा समाज द्वारा बजाये जाने वाले विविध वाद्यों का परिचय तथा वाद्य विशेष जैसे कौन से समय कौन सा वाद्य बजाया जाय इसके नियम, इन सारे पहलुओं का निरूपण इस अध्याय में किया गया है। साथ ही साथ राठवा समाज आज किस प्रकार के गीत-संगीत का निर्माण कर रहा है, इस संगीत पर टेक्नोलॉजी का एवं समाज में हो रहे बदलाव का क्या प्रभाव पड़ रहा है, राठवा भीलों के संगीत का अन्य आदिवासी समूहों से एवं समाज की भिन्न-भिन्न संगीत धाराओं से क्या सम्बन्ध है? यह अध्याय ऐसे अनेक प्रश्नों को भी संबोधित करता है।

वाद-विवादों से घिरा आदिवासी संगीतः कुछ प्रश्नोत्तर

आदिवासी संगीत परम्पराएँ बदलाव की जिस तीव्र लहर का अनुभव कर रही हैं, परिणामस्वरूप उनके गीत-संगीत में जो बदलाव आ रहा है, उसके कारणों की समीक्षा इस अध्याय में की गयी है। साथ ही 'आदिवासी' संज्ञा को जिन जटिल प्रश्नों ने घेर रखा है, उनकी भी चर्चा की गयी है, उदाहरण के लिए आदिवासी कलाओं एवं समाजों के उपयुक्तिकरण (अप्रोप्रिएशन), रूमानीकरण (रोमांटिसाइजेशन), अश्मीभूतीकरण (ऑसीफिकेशन), साधारणीकरण (स्टैण्डर्डाइजेशन) एवं संस्कृतकरण (संस्कृताइजेशन) जैसे मुद्दों को सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही साथ 'मुख्यधारा' द्वारा आदिवासी कलाओं का शोषण होने की प्रक्रिया का निरंतर जारी रहना तो दूसरी ओर आदिवासी समुदायों

द्वारा भी इसी 'मुख्यधारा' का अनुकरण किया जाना, परिणामस्वरुप नव-आदिवासी संगीत का उद्‌भव होना (सिंक्रेटिजम), डीजे और सीडी उद्योग का आदिवासी विश्व पर भी कब्ज़ा जमाना, संगीत के सन्दर्भ में मोबाइल जैसे उपकरणों का महत्व बढ़ना, ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की भी इस अध्याय में चर्चा की गयी है। आज आदिवासी संगीत के सन्दर्भ में मातहत दृष्टिकोण (सबाल्टर्न पर्सपेक्टिव) क्या मायने रखता है? एवं कई आदिवासी समाजों द्वारा 'मुख्यधारा' के अनुकरण के उपरांत मुख्यधारा का धिक्कार भी किया जाना, ऐसे अनेक संवेदनशील मुद्दों की चर्चा यह अध्याय प्रस्तुत करता है।

अनुभव

समग्र आदिवासी संगीत यात्रा के दौरान मैं जिन अद्‌भुत अनुभवों से गुज़री, उन्हीं को बयान करता है यह अध्याय। आदिवासी विश्व से जुड़ने के बाद मेरे अपने जीवन में किस प्रकार के बदलाव आये, मेरे विचारों पर, मेरे संगीत पर जिनका प्रभाव पड़ा, उन रोचक कहानियों-किस्सों को इस अध्याय में सम्मिलित किया गया है।

यह विनिबंध किसके लिए?

मैं और मेरे जैसे संगीत के कई विद्यार्थी हैं, शिक्षक हैं, और रसिक श्रोता भी हैं जिन्होंने आदिवासी संगीत को अब तक न कभी समझा, न परखा, न कभी इसे स्वयं के संगीत-अनुभव का एक अविभाज्य हिस्सा माना! यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि आज भारत के विश्वविद्यालयों में जहाँ-जहाँ भी संगीत विभाग कार्यरत हैं, वहाँ अधिकांश शास्त्रीय संगीत की ही शिक्षा दी जाती है, कुछ विश्वविद्यालयों में इक्का-दुक्का लोक-संगीत विभाग हैं, पर वहाँ भी लोक संगीत को शास्त्रीय संगीत की तुलना में गौण माना जाता है, गर लोक संगीत की ही यह स्थिति है, तो आदिवासी संगीत के लिए तो दिल्ली अभी बहुत ही दूर है।

आदिवासी संगीत हो या लोक संगीत, शास्त्रीय संगीत हो या लोकप्रिय संगीत, या फिर सुगम संगीत हो... यह सारी संगीत विधाएँ आपसी तकरार अथवा 'मैं एवं अन्य' जैसे भेदभाव के लिए तो निर्मित

नहीं हुई हैं, न ही यह कोई हवाबंद कमरे हैं जिनका आपस में कोई सम्बन्ध ही न हो। वस्तुतः अभ्यास सुविधा के लिए इन विधाओं को स्वतंत्र रूप में देखा गया है परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि इन तमाम विधाओं में कई स्तर पर संवाद होता ही रहता है। कभी-कभी इन सारी विधाओं के बीच हो रहे संवाद में तालमेल के साथ-साथ एक प्रकार का तनाव भी पाया जाता है क्योंकि इस लेनदेन के तानेबाने सूक्ष्म हैं, जटिल हैं। उदाहरण के तौर पर शास्त्रीय संगीत विधा इस बात को स्वीकार तो अवश्य करती है कि कई रागों का जन्म लोक धुनों से हुआ है, पर साथ ही साथ वह इस बात का अहंकार भी जताती है कि रागों के यह प्राकृत रूप, यानि की लोकधुनें बड़ी ही सीमित और छोटी होती हैं, तो लोक विधा इस बात का दुःख जताती है कि लोकप्रिय विधा (पॉप्युलर म्युजिक) लोक विधा (फोक ट्रेडिशन) के संगीत अंश चुरा-चुराकर स्वयं को समृद्ध कर रही है। जैसा कि हम जानते हैं, कई लोक गीतों को 'परिष्कृत' कर उन्हें फिल्मी बाज़ार में बेच कर अपार लोकप्रियता एवं धन बटोरा जाता है, इसके बहुत बड़े उदाहरण हैं जैसे हिंदी फिल्म जगत में धूम मचाने वाला गीत "निमुडा निमुडा" वास्तव में राजस्थान के घुमंतू आदिवासी समाज लांगा-मांगनियारों का एक पारंपारिक गीत है, वैसे ही "ससुराल गेंदा फूल" यह फिल्मी गाना दरअसल एक छत्तीसगढ़ी लोक गीत है! इन उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है की यह सारी संगीत विधाएं आपस में उलझी हुई हैं, और इन्हीं की एक जटिल कड़ी है आदिवासी संगीत।

स्वाभाविक है कि इन सारे तानोबानों को परखने के लिए एक अभ्यासक को एक बड़ी जद्दोजहेद से गुज़रना पड़ता है। किन्तु, महत्वपूर्ण बात यह है कि तालमेल के साथ-साथ तनाव से भरे इस सम्मिश्र अनुभव को समझने की सारी जद्दोजहेद के दूसरे छोर पर रहती है, एक प्रशांत पारस्परिकता, जो आज भी भिन्न-भिन्न मनुष्यों को, उनके विचारों को, उनकी कलाओं को एक दूसरे से जोड़ कर रखती है। मैं भी अपने आदिवासी मित्रों से इसी पारस्परिकता के धागे से बंधी हूँ और जुड़ी हूँ आदिवासी संगीत विचार से। इस तथ्य में, इस अन्तःसम्बन्ध में विश्वास रखनेवाला हर वाचक, कला-उपासक, चाहे वह मेरा एक

जिज्ञासु आदिवासी मित्र हो, या कोई विद्यार्थी, कोई कार्यकर्ता अथवा संगीत, संस्कृति, इतिहास, समाजविद्या या मानवशास्त्र का अभ्यासक, या फिर संगीत का कोई दर्दी ही क्यों न हो? आप सभी के लिए, यह अदना सा विनिबंध कोई न कोई अनदेखा किवाड़ अवश्य खोलेगा ऐसी आशा है, कयोंकि यह संगीतयात्रा केवल आदिवासियों की नहीं, मेरी और आपकी भी है!

तू ख़ुदा है, न मेरा इश्क़ फ़रिश्तों जैसा
दोनों इंसाँ हैं, तो क्यों इतने हिजाबों में मिलें?

– अहमद फ़राज़[२]

सन्दर्भ :

१) "Music is always migrating from its point of origin to its destiny in someone's fleeting moment of experience." - ALEX ROSS, preface, The Rest Is Noise
http://www.notable-quotes.com/r/ross_alex.html

२) अहमद फ़राज़ साहब का शेर – https://www.rekhta.org/couplets/tuu-khudaa-hai-na-miraa-ishq-farishton-jaisaa-ahmad-faraz-couplets?lang=hi

अध्याय एक

आदिवासी संगीतः कला एवं शास्त्र विचार

"विषय के आगे हमें अपने सभी सिद्धांतों, अपने सभी विचारों को बिसरा देना चाहिए। इनमें से कौन सा हिस्सा वास्तव में हमारा अपना है, वो विषय द्वारा ही हमारे भीतर जागृत हुई भावना को अभिव्यक्त करेगा।"

–हेनरी मतिस्से[१]

स्वगतः एक अद्‌भुत यात्रा का आरंभ

तमे रांचीबेन ने? (आप रांची बहन हैं न?) एक राठवा–भील युवती मुझ से मेरा नाम पूछ रही थी। मैंने हँसकर कहाः न, मारू नाम प्राची... तो वह बोली, हाँ हाँ... वही, रांची! रांचीबेन, तमारो अवाज बहु सरस छे ... क्या आप हमारे गीत गायेंगी? उस भील युवती ने इतने प्रेम से पूछा कि मैंने अनायास हाँ में सिर हिला दिया। तब मैं नहीं जानती थी, परन्तु वह शुरुआत थी एक अद्भुत संगीतयात्रा की जिसने आगे चलकर मेरे समग्र भावबोध एवं विचारविश्व को झंझोड़ कर रख दिया।

सन् २०१० की बात है। भारत के गणमान्य संस्कृतिकर्मी एवं भाषा–साहित्य–समालोचक प्रोफेसर गणेश देवी के साथ आदिवासी अकादमी (तेजगढ़ गाँव–पूर्व गुजरात) जाना हुआ। प्रोफेसर देवी ने कहा तुम गायक हो, आदिवासियों के गीत सुनना चाहोगी हमारी अकादमी में? मैंने कहा ज़रूर। बचपन से मैं गुजराती लोकगीत, लोकधुनें सुनती, गाती आ रही थी किन्तु यह आदिवासी गीत कुछ भिन्न लग रहे थे, जैसे कुछ कर्कश, विचित्र सी ध्वनियाँ कान पर टकरा रही हो, ऐसा लगा यह कैसा संगीत? इसे संगीत क्यों कहें? असमंजस में रही कुछ देर, पर फिर सोचा किसी भी नए अनुभव को एकदम से नकार देना यह कोई अच्छे विद्यार्थी का

लक्षण तो नहीं! मैं थोड़ी शर्मिंदा हुई और और ध्यान से सुनने लगी। सुनते-सुनते समझ आया कि यह आदिवासी गीत ध्वनि के सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों स्तरों का उपयोग कर बड़ी रोचक रचनाएँ निर्माण कर रहे थे। और बार-बार इन ध्वनियों का अनुरणन हो रहा था। अनुरणन, संगीत का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण! साथ ही साथ यह गीत ध्वनि के मूलभूत गुणधर्म, पिच-तारत्व, टिम्बर-पोत, और लाउडनेस-प्रबलता - इन तीनों[२] के साथ बड़ी सहजता से खेल रहे थे। इस अहसास के होते ही मैं दंग रह गई। ऐसा लगा कि यह गीत जैसे मुझे मेरे अपने ही अन्दर स्थित एक आदिम ध्वनि-संवेदन से जोड़ रहे थे। वह संवेदन, जिसका और मेरा आज तक कभी सामना नहीं हुआ था। वह सादगी से भरी, फिर भी जटिल, ऐसी एक चेतना। ओह, यह कैसी चेतना है? इसी विचार में लीन आदिवासी अकादमी से लौटते समय मैं अनायास ही कुछ आदिवासी गीत गुनगुनाने का प्रयास करने लगी।

"रुडो रूपाळो मारो तेजगढ़ नो महुडो.. एनी डांडी गई आपा ने तेपा,
होय कोई पूरो तो कोई अधुकडो.. घम्मर घटादार तेजगढ़ नो महुडो!"

तेजगढ़ गाँव के घटादार महुआ वृक्ष की कहानी सुनाता है यह आदिवासी गीत। प्रोफेसर गणेश देवी स्वयं गाड़ी चला रहे थे, उन्होंने मुझे गाते हुए सुना और तुरंत बोले, "तुम्हें नहीं लगता कि अगर इन आदिवासी गीतों ने तुम्हें कहीं छुआ है, तो तुम्हें इनका अभ्यास करना चाहिए। इनके बारे में लिखना चाहिए?" मैंने और एक बार हाँ में सर हिलाया।

फिर क्या था? देखते ही देखते तेजगढ़ आदिवासी अकादमी के कई सारे आदिवासी मेरे मित्र बन गए। भारत के अलग-अलग आदिवासी गाँवों में घूम कर, आदिवासी मित्रों के साथ उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन को समझते, उन्हीं के साथ उनके त्योहार मनाते, घर के बड़े-बूढों से गीत-गोष्ठी सुनते-सुनते मेरी यह अद्‌भुत संगीतयात्रा कब शुरू हुई और आगे बढ़ी, पता ही नहीं चला। गुजरात से शुरू हुई यह यात्रा छत्तीसगढ़, आसाम होते हुए हिमाचल प्रदेश पहुँची, वहाँ से केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, तेलंगाना, ओडिसा- ऐसे कई राज्यों में भ्रमण करते करते बारह वर्ष बीत गए. यद्यपि इस यात्रा के दौरान मेरे 'शहरी' शरीर

को कष्ट तो बहुत हो रहा था किन्तु आदिवासी सुरों की यह अनोखी खोज मन को एक अद्‌भुत आनंद भी प्रदान कर रही थी. आदिवासी समूहों का प्रेमभाव, निस्पृहता, निसर्ग-ज्ञान- इन गुणों से मैं अभिभूत हुई, किन्तु साथ होते हुए भी उनका एकदम चुपचाप सा रहना, अक्सर उनके आसपास पायी जानेवाली एक तीव्र स्तब्धता, इनसे मैं कभी कभी आशंकित हो उठती। जैसे-जैसे यात्रा आगे बढ़ती गयी, 'आदिवासी विश्व एक ज़बरदस्त सामाजिक, राजकीय एवं सांस्कृतिक संक्रमण से गुजर रहा है' - इसका अनुभव होने लगा। इस अनुभव ने मेरे अन्दर के कलाकार को, इंसान को खूब प्रभावित किया, बेचैन भी किया। किन्तु साथ-साथ मन में यह विचार भी आया; संक्रमण में कौन, कब नहीं होता? मेरा शहर, मेरा संगीत, मेरा होना भी तो हमेशा से एक संक्रमण में ही रहा है। फिर यहाँ, इन आदिवासी गाँवों में यह अजीब सा सन्नाटा क्यों? या मैं ही शोरशराबे की आदी हो चुकी हूँ? मैं महज़ एक गायक कलाकार, कैसे इस संक्रमण को समझूँ? खैर, धीरे-धीरे मैंने स्वयं को समझाया: मेरी यात्रा एक संगीत यात्रा है, हो सकता है कि संगीत ही कई अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर दे दे! और मैंने फिर एक बार अपना पूरा ध्यान संगीत पर केन्द्रित किया तथा आदिवासी मित्रों के साथ उनके गीत सुनने, सीखने और गाने लगी।

'आदिवासी' तो है ही नहीं!

आदिवासी गीतों को सुनते हुए एक बड़ी अनोखी बात सामने आई, पारंपरिक आदिवासी गीतों में 'आदिवासी' शब्द कभी नहीं पाया जाता। हाँ, अगर किसी सामाजिक एवं राजकीय आंदोलन से जुडे हुए कुछ आधुनिक गीत हैं, या जागरण गीत हैं, तो उसमें 'आदिवासी' शब्द अवश्य पाया जाता है। ध्यान देनेवाली बात यह थी कि यदि मैं अपने आदिवासी मित्र से पूछूँ कि आप कौन हैं? तो वह कहेंगे:

"मैं? मैं गोंड हूँ... मुंडा हूँ... भील हूँ... बोडो हूँ... संथाल हूँ... पाणिया हूँ... गद्दी हूँ..."।

ओह, मेरे आदिवासी मित्र अपने आप को स्वयं के समाज के नाम से

ही पहचानते हैं। तो इसका अर्थ क्या 'आदिवासी' यह संज्ञा मैंने और मेरी तथाकथित 'मुख्यधारा' ने अपनी सुविधा के लिए, अपनी समझ के लिए तैयार की है? या फिर आदिवासी एवं नगरनिवासी – 'मैं और अन्य' ऐसे विभाजन के लिए तैयार की? अगर यह सच है, तो क्या अंतर है इस 'मैं और अन्य' में? क्या यह अंतर सचमुच 'मैं और अन्य' याने 'सेल्फ एंड अदर' ऐसा द्वंद्वात्मक है? और अगर इन में द्वंद्व नहीं है तो 'आदिवासी' एवं 'ट्राइबल' इन शब्दों का उच्चारण मुझे हमेशा सभानता एवं संवेदनशीलता से करना चाहिए, अवतरण चिन्हों के साथ।

तो फिर कौन है 'आदिवासी'? यह बात पहले अनेक बार हम सुन-पढ़ चुके हैं, कि आज हम जिस भूखंड को 'भारत' इस नाम से जानते हैं, वहाँ कई सदियों से बसे हुए भिन्न भिन्न समूहों/कबीलों के आसपास के जंगल, नदियाँ, पहाड़ इन जैसे कई सारे निसर्ग स्त्रोतों पर अपना कब्ज़ा पाने के लिए अंग्रजों ने गोंड, मुंडा, भील, बोडो, संथाल, पाणिया, गद्दी ऐसे अनगिनत समाजों को 'एनिमिस्ट' एवं 'ट्रायबल' पुकार कर अस्तित्व के एक हीन दर्जे पर ला रखा। अंग्रेजों ने इस भूखंड के प्राकृतिक संसाधनों का अपरिमित शोषण तो किया ही, परन्तु साथ ही साथ जिन समूहों ने इसका प्रतिकार किया, उन पर अमानुष अत्याचार ढाए। खैर, अंग्रेजों के भारत छोड़ जाने के बाद 'एनिमिस्ट' अथवा 'ट्राइबल' जैसे औपनिवेशिक अंग्रेजी शब्दों को ख़ारिज किया जाय एवं यह सारे समूह पुनः आत्मसम्मान से जीवन व्यतीत कर सकें, इस हेतु प्रायः गाँधीजी इन समाजों के लिए 'मूल निवासी' इस अर्थ में – 'आदिवासी' इस शब्द का प्रयोग किया करते, तथापि अंग्रेज मानववंशशास्त्री वैरियर एल्विन ने इन समूहों के लिए एक प्रतिशब्द भी तैयार किया, जो था 'भूमिजन'।[३] १९३० में झारखण्ड में हुई आदिवासी महासभा के उपरान्त अनेक समाजों ने 'आदिवासी' इस छत्र को, इस संज्ञा को अपनी पहचान बनाकर अपने अधिकारों की लड़ाई जारी रक्खी। आगे चलकर १९९९ में भारत सरकार ने भी स्वतंत्र आदिवासी मंत्रालय स्थापित किया जिसकी मदद से यह सारे समूह अपने अधिकार एवं अपनी गरिमा को पुनः प्राप्त कर सकें। यह घटनाक्रम स्पष्ट करता है की 'ट्राइबल' यह तो एक गठित संज्ञा है ही, परन्तु उसका प्रत्युत्तर देने

हेतु रची गयी 'आदिवासी' यह संज्ञा भी गठित ही है।

शायद यही कारण था, इन सारे वर्षों में आदिवासियों के सान्निध्य में मैंने हमेशा पाया, न ही मैं उतनी 'मुख्यधारा' की हूँ, न ही मेरे मित्र उतने 'आदिवासी'। कई स्तर पर हम भिन्न ज़रूर हैं, और होने भी चाहिए। किन्तु जैसे मैंने प्रस्तावना में बताया इस भिन्नता के उपरांत मनुष्यता और संगीत के धागे हमें जोड़ते रहे हैं एक साथ सालों साल। फिर 'मुख्यधारा का संगीत' एवं 'आदिवासी संगीत' यह गठित संज्ञाएँ क्या प्रस्थापित करना चाहती हैं? इनका संगीत कैसे और किस प्रकार से एकदूसरे से भिन्न होते हुए भी आपस में जुडा हुआ है? क्या केवल भिन्न होना ही 'निम्न एवं उच्च' ऐसी संभावनाओं को जन्म देता है? क्या छठ्ठी शताब्दी में ऋषि मातंग ने अपने 'बृहददेशी' इस ग्रन्थ में 'देश एवं मार्ग' ऐसा विभाजन प्रतिपादित किया उसके पीछे यही द्वंद्व रहा होगा उन के मन में?

व्यक्तिगत स्तर पर मैं इसे द्वंद्व / द्विती कदापि नहीं मानती, संगीत विधाओं की भिन्नता ही उनमें संवाद की सम्भावना का निर्माण करती है। परस्पर संवाद से ही यह विधाएं विकसित होती हैं। जटिल एवं सूक्ष्म कला-विषय, अभ्यास-विषयों की एक सुविहित व्यवस्था निर्माण करना, इन अभ्यास विषयों के अन्योन्य-सम्बन्ध व उनमें हो रहे आदान-प्रदान की चर्चा करना, कलाओं के सिद्धांत उद्धृत करना, कलाओं का शास्त्र रचना एवं आनेवाली पीढ़ियों के लिए इस ज्ञान के द्वार खोलना, ऐसे और इस जैसे अनेक प्रश्नों से अभ्यासकर्ता का शोधन प्रेरित होता है, होना चाहिए। इन प्रश्नों को संबोधित करना मेरे लिए अत्यावश्यक हो गया।

अभ्यास

अभ्यास शुरू तो हुआ पर मैं किसी भी शोध प्रणाली (रिसर्च मेथडोलोजी) से अवगत नहीं थी, न मैंने किसी प्रणाली के बारे में कुछ पढ़ा था, न कुछ सीखा था। अब तक विश्वविद्यालयों में भी मैं विद्यार्थियों को अलग-अलग ढंग के गीत-प्रकार ही सिखाती रही थी किन्तु मेरे तीन गुरुजनों का मेरी इस खोज पर, मेरी कार्यप्रणाली पर गहरा असर पड़ा।

भारत के ख्यातनाम संगीताचार्य गुरु डॉ अशोक दा रानडे हमेशा

कहते, गीत को देखो, लेट द डेटा स्पीक, गीत अपनी कहानी स्वयं सुनाता है, उसे धीरज से सुनो।

तो प्रोफेसर गणेश देवी कहते, गर आदिवासी संगीत को जानना है, तो आदिवासी समाज से जुड़ो, उनके साथ रहो, देखो वे क्या सुनाना चाहते हैं.. उन्हें धीरज से सुनो।

और भारत के प्रसिद्ध सिनेमा अभिमूल्यक एवं आलोचक प्रोफेसर सतीश बहादुर, जो मुझसे उर्दू काव्य का अभ्यास करवाते, वे अक्सर कहते – हर गीत के शब्दों के बीच जो अंतराल है, अवकाश है, उसी में बहुत सारा संगीत छिपा रहता है, उस ठहराव का अनुभव करो, उस स्तब्धता, शांति को, धीरज से सुनो।

गुरुजनों की बताई यह अनमोल बातें इस संगीत यात्रा में हमेशा मेरे साथ बनी रही।

"कीता न होई, थापिया न जाई, आपोआप निरंजन सोयी!"–नानकदास

मुझे नहीं पता निरंजन का प्रकटना क्या होता है, किन्तु सुनाने से हटकर सुनने का अभ्यास करने लगी तब पाया कि आदिवासी गीतों में बोलते बोलते गाना, और गाते गाते बोलना ऐसी क्रियाएं बड़ी सहजता से होती रहती हैं। इस प्रश्न ने मुझे बेचैन किया कि कहाँ से आती है यह सहजता? क्यों यह संगीत बिना किसी तनाव के, सहज भाव से प्रकटता है जब कि मेरे गले से निकलता हुआ एक एक स्वर मेरे शरीर, बुद्धि, मन–तीनों को निचोड़ कर रख देता है? क्या यह संगीत सहज है, इसका अर्थ यह आसान है? जी नहीं, बिलकुल नहीं, यह संगीत सहज है – इसका अर्थ आसान है, ऐसा हरगिज़ नहीं कहा जाना चाहिए। इन गीतों में मनुष्य स्वभाव की हर जटिलता का एवं इन समाजों की अनेक विशेषताओं का अंतर्भाव होता है, अत: इन गीतों को केवल अनुकरण के आधार पर ही गाया–बजाया नहीं जा सकता। इन्हें समझने के लिए आदिवासी समाजों के अंदरूनी अस्तित्व एवं रोजमर्रा के जीवन से जुड़ना आवश्यक हो जाता है। जैसे–जैसे मैं आदिवासी जीवन से जुड़ती गयी और अधिकाधिक गीत सुनती गयी, मैंने देखा, जैसे इन पारंपारिक गीतों में 'आदिवासी' शब्द नहीं पाया जाता, वैसे ही आदिवासी भाषाओँ में

'संगीत', 'कला', 'कलाकार', 'शास्त्र', 'शास्त्रकार' इन संज्ञाओं के लिए भी कोई प्रतिशब्द नहीं पाए जाते। न ही इनके दैनंदिन जीवन में इस संज्ञाओं की कोई चर्चा मौजूद है।

न 'कला' न 'कलाकार', फिर भी हम गाते हैं, बजाते हैं, नाचते हैं।

अपने राठवा मित्रों की ही बात करूँ तो वे कहेंगे, 'रांची बेन.. आज हम टीमली कूदेंगे.. ढोल-पेही बजायेंगे.. गरबा खेलेंगे, आख्यान लगायेंगे, धांदल - धमाल करेंगे'। वास्तव में यह नाद और दृश्य से जुड़ी अलग-अलग सौंदर्य-अभिव्यक्तियां हैं, पर वे कभी नहीं कहेंगे कि हम 'गायन वादन नर्तन' करते हैं। अगर कला है भी तो एक अद्‌भुत जीवनानुभव है इन समाजों के लिए, कोई 'लार्जर देन लाइफ एंटिटी' नहीं। तो अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस सौन्दर्यपूर्ण जीवनानुभव को कला कहें या नहीं?

विश्व भर के कला समीक्षक 'कला' शब्द को भिन्न भिन्न प्रकार से टटोलते हैं। भारतीय सन्दर्भ में एक अनुमान ऐसा है कि सर्वप्रथम ऋग्वेद में 'कला' शब्द का प्रयोजन किया गया (८/४७/१६)। कला शब्द की व्युत्पत्ति 'कल' धातु से जुडी हुई है जिसका अर्थ है - सुंदर, मधुर। इसकी 'ला' धातु से पूर्ति होती है जिसका अर्थ है प्राप्त करना - सौन्दर्य को.. माधुर्य को प्राप्त करना, यही कला है। परन्तु जैसे जैसे मनुष्य संस्कृति विकसित होती गयी 'कला' शब्द ने भी अनेक अर्थ छटाएँ प्राप्त की।[४]

द्वितीय शताब्दी ईस्वी में वात्स्यायन ऋषि द्वारा रचे गए 'कामशास्त्र' में वर्णित ६४ कलाओं[५] पर नजर डालने से ज्ञात होता है कि कला के प्रारंभिक अर्थों में से एक महत्त्वपूर्ण अर्थ है - कौशल-कारीगरी। बिलकुल यही अर्थछटा अंग्रेजी शब्द 'आर्ट' में भी झलकती हुई नजर आती है। भारतीय शब्द 'कला' के उपयोग की तुलना में पाश्चात्य जगत ने 'आर्ट' शब्द का उपयोग बहुत देर से अर्थात तेरहवीं शताब्दी में पहली बार किया। आर्ट[६] शब्द का विवेचन करते हुए पाश्चात्य विद्वान् कल्पना (इमैजिनेशन) एवं भावना (इमोशन) इन शब्दों के साथ ही साथ 'क्राफ्ट' एवं 'स्किल' शब्दों को भी भरपूर महत्त्व देते हैं। इसका अर्थ है

कौशल और कारीगरी। इनका अस्तित्व आश्रयदाता, खरीदार, अभिमूल्यन करनेवाला इन सब के अभिप्राय पर निर्भर करता है। इसमें निरपवादरूप से कारीगरी का, कला का किसी न किसी रूप में विक्रय एवं मूल्यांकन अभिप्रेत है। स्वाभाविक है, कला किसी न किसी आश्रयदाता को, रसिक को रिझाने का प्रयत्न अवश्य करेगी।[७]

किन्तु अनेक आदिवासी समाजों का ढोल या बाँसुरी बजाना किसी भी बाहरी आश्रयदाता पर निर्भर नहीं था, अतः इन समाजों ने कभी अपनी भाषाओं में 'कला' एवं 'कलाकार' शब्दों का प्रयोग नहीं किया। परन्तु इस कारण आदिवासी कलाकार नहीं होते, ऐसा अर्थ खोजना मूढ़ता होगी क्योंकि आदिवासी समाज 'मनुष्य बनाम कलाकार' ऐसा भेद नहीं करते, मनुष्य होने का अर्थ उनके लिए कलाकार होना भी है। साथ ही साथ हमें यह भी समझना होगा कि आदिवासी समूहों ने कला के ज़रिये ईश्वर, पूर्वज एवं निसर्ग को रिझाने का यत्न अवश्य किया परन्तु इन तीनों को यह समाज अपने अंतरिम अस्तित्व का हिस्सा समझते हैं। इस अर्थ से हम इनके इस समग्र कलानुभव को सेंद्रिय (ऑर्गेनिक एक्सपीरियंस) कह सकते हैं। स्वयं ही कर्ता, स्वयं ही भोक्ता, यहाँ 'अन्य' कोई है ही नहीं, सम्पूर्ण समूह गा रहा है और उसे सम्पूर्ण समूह सुन भी रहा है, एक साथ।

आदिवासी समाजों के साथ लम्बा समय व्यतीत करने के बाद प्रतीत होता है कि इन सारी स्फूर्त अभिव्यक्तियों से जुडी हुई है एक निरामय अभिलाषा जैसे कि निजानंद प्राप्त करना, दिनभर के कामकाज से उत्पन्न होनेवाले कष्ट को सहज साध्य करना, समाज-समूह के साथ आनंद बाँटना, अपनी परंपरा एवं उत्सवों में रंग भरना, प्रकृति के रहस्यों को उजागर करना एवं दैवी शक्तियों के चरणों पर अपने भिन्न-भिन्न सर्जनाओं की भेंट चढाना। केवल 'अन्य' का मनोरंजन ही उद्देश्य नहीं रहा है इनका। यही वजह है कि आदिवासी संगीत के प्रकटन में एक प्रकार की सहजता रही, कोई तनाव नहीं रहा।

"क्यों गाते हैं आप?" ऐसा पूछने पर मेरा आदिवासी मित्र जवाब देता है, "जी, अच्छा लगता है!" ऊपर-ऊपर से सरल दिख रहे इस उत्तर में पारंपरिक ज्ञान की बातें छिपी हैं, "प्राणीमात्र क्यों गाता है?"

इस प्रश्न का उत्तर कंठपरंपरा देती है, "प्राणिमात्र की इच्छा।"[८] किन्तु इस गायन-इच्छा को वास्तविक गायन में परिवर्तित होने तक एक लम्बा सफर तय करना पड़ता है।

क्या है यह सफ़र? इस संगीत-सफ़र को जानने के लिए मनुष्य कैसे विकसित हुआ यह समझना भी आवश्यक हो जाता है। मनुष्य की उत्क्रांति में तीन महत्त्वपूर्ण अवस्थाएं बताई गई हैं - प्रथम अवस्था: मनुष्य की रीढ़ सीधी हो, उसका दो टांगों पर खड़ा होना - परिणामत: उसके हाथों का मुक्त, रिक्त होना, द्वितीय अवस्था: पत्थरों की चकमक से आग का प्राप्त होना एवं तृतीय अवस्था: मानुष भाषा का निर्माण होना.. इन तीन अवस्थाओं ने ही मनुष्य को मनुष्यत्व बहाल किया है।[९] किन्तु रसप्रद बात यह है कि कई इतिहासकार एवं संशोधक मानते हैं कि संगीत तो शब्द-भाषा से भी पहले अस्तित्व में है। नन्हा बालक शब्दों से पहले नादमयता एवं लय से जुड़ता है, बाद में जाकर शब्दों को अवगत करता है. संशोधकों के इस तर्क एवं दलील के आधार पर 'संगीत' की अनेक नई व्याख्याओं ने जन्म लिया। पुरातत्वशात्री स्टीव्हन मीथेन की पुस्तक 'द सिंगिंग नियंडरथोल' इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है।[१०]

भाषा के अस्तित्त्व से पूर्व जन्मा संगीत किस प्रकार का होगा, यह जानने के लिए हमारे पास प्रत्यक्ष प्रमाण की काफी कमी है, तो इसका उत्तर कैसे खोजें? एक उत्तर हो सकता है, परिकल्पना या हाइपोथीसिस। यह एक प्रस्थापित सिद्धांत है कि लगभग दस हज़ार वर्ष पूर्व खेती का उदय हुआ। उससे पहले मनुष्य छोटे-छोटे समूहों में, कबीलों मे भ्रमण कर अधिकतर घुमंतू जीवन व्यापन करता रहा। ऐसे समय मनुष्य स्वयं के कंठ का उपयोग किस प्रकार करता होगा? परिकल्पना के सहारे एवं आज भी आदिवासी समूहों में जो विशिष्ट ध्वनियाँ पायी जाती हैं, जैसे राठवा भीलों की किकियारी ध्वनि, उस आधार पर हम कह सकते हैं कि संज्ञापन के लिए, भावों के प्रकटीकरण के लिए, भय सूचना के लिए, साद-प्रतिसाद के लिए, उससे भी परे; स्वयं के आनंद के लिए मनुष्य अपने कंठ से भिन्न भिन्न ध्वनियों का निर्माण करते रहे, सुनी हुई नैसर्गिक ध्वनियों का अनुकरण एवं अनुरणन कर उनके साथ भिन्न

भिन्न प्रकार से खेलते रहे, उनकी विशिष्ट संरचनाएं तैयार करते रहे। आज हम जिसे संगीत कहते हैं, उस विधा का बीज यहीं पर बोया गया। उत्खनन अंतर्गत प्राप्त हुए सिन्धु संस्कृति के अवशेषों में सात छिद्रों की बाँसुरी का पाया जाना एवं पशु की खाल से ढके लकड़ी के ढोल का मिलना क्या सूचित करता है?[११] कल्पना एवं सर्जन यह मनुष्य की अहम् प्रेरणाएं हैं। एक ओर बांस की पोलाई से हवाओं का गुज़रना, उससे उत्पन्न हुई ध्वनि लहरें सुन बेनु (वेणु - बाँसुरी, बेनु शब्द का अर्थ ही बांस है) का निर्माण होना, तो दूसरी ओर मृत पशु की खाल को लकड़े पर बाँध उस पर आघात कर कर विभिन्न नाद निर्माण करना, गले से 'किकियारी' ध्वनि[१२] (तार स्वर में निकाली गयी एक तीव्र आवाज़) निर्माण करना, साथ साथ ही सीटी बजाना, ताली बजाना, पाँव से धरती पर आघात कर लय निर्माण करना। यह सब मनुष्य की कल्पना एवं सर्जना की प्रेरणा के कारण ही संभव हुआ। आज भी आदिवासी समाज बाँसुरी एवं ढोल को ही अपने आदिवाद्य बताते हैं। आदिवाद्य बाँसुरी एवं ढोल का निर्माण होना अपने आप में आदिवासी कला एवं कला के शास्त्र के भी निर्माण होने का प्रमाण है। यह सर्वज्ञात है कि आदिवासी कलाएं मौखिक परंपरा में ही निहित रही, परन्तु क्या मौखिक परम्पराओं की कलाओं का कोई शास्त्र नहीं होता? तो इसका उत्तर है - अवश्य होता है, यह शास्त्र भी मौखिक परंपरा में ही निहित होता है। एक संगीत शोधक का कार्य है कि वह मौखिक परम्परामें निहित इस शास्त्र को उजागर करे।

'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं से हुई है,''शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते!'' शास[१३] - अर्थात नियमन करना (रेग्युलेशन) तथा शंस - यानी वर्णन करना (डिस्क्रिप्शन)। सामान्यतः किसी भी शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है - उद्देश्य, लक्षण एवं परीक्षा। शास्त्र क्या करता है? तो किसी भी विद्याशाखा एवं कलाशाखा का उद्येश क्या है? उसके लक्षण क्या है? एवं इन उद्येश और लक्षणों को यह शाखाएं सही रूप से निभा रही हैं के नहीं इसकी परीक्षा करता है! ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि इन सारे निकषों पर आदिवासी संगीत एक स्वयंपूर्ण शास्त्र बनकर खरा उतरता है क्योंकि आदिवासी समाजों

में हर प्रकार की संगीत निर्मिती के अपने नियम एवं वर्णन मिलते हैं, जैसे की कौन से समय कौन सा वाद्य बजाया जाय और क्यों? जब भी कोई परंपरा सेंकडो वर्षों तक अपने आप को जीवीत रखती है तो यह बात सिद्ध हो ही जाती है कि उसका अपना एक सैद्धांतिक - शात्रीय ढांचा अस्तित्व में है, भले ही वह वाचिक परम्परा में स्थित क्यों न हो।

क्या हैं आदिवासी संगीत की वह विशेषताएं जो आदिवासी संगीत को एक कला के उपरांत एक शास्त्र के रूप में भी उजागर करती हैं?

- प्रमुख रूप से मौखिक परंपरा में ही निहित होने के कारण आदिवासी संगीत एक स्मृति प्रधान संगीत है - लम्बे लम्बे गीत एवं गाथाएं केवल स्मृति के आधार पर गाये जाते हैं। जैसे कि आज भी गुजरात का डूंगरी भील समाज अविरत सात रात्रियों तक महाभारत कथन करता है, बिना किसी बही या लिखित साहित्य का आश्रय लिए। यह एक अपने आप में स्तिमित करने वाला अनुभव है।
- आदिवासी गीतों के पद्य बड़े दीर्घ होते हैं, चाहे वो गुजरात के भीलों की उत्पत्ति कथा हो, छत्तीसगढ़ की भरथरी गाथा हो या फिर हिमाचल प्रदेश की रानी रुपी के बलिदान की कहानी हो, यह सारे पद्य लम्बे समय तक पढ़े / गाये जा सकते हैं, किन्तु इन्हें गाते समय तीन अथवा चार स्वर ही प्रयुक्त होते हैं। आदिवासी गीतों में संपूर्ण सप्तक का अंतर्भाव अपवाद से ही दिखता है। इसका एक कारण यह है कि आदिवासी समाजों में कलाकार एवं श्रोता/दर्शक ऐसा विभाजन नहीं होता, सारा समाज संगीतकार्य में सम्मिलित होता है। तथापि समग्र समूह की गायन सुविधा के लिए गायन में तीन, चार अथवा पाँच स्वर ही लिए जाते हैं। किन्तु इस के साथ ही आदिवासी समाजों की हर संगीत-कृति में एक सूक्ष्म एवं जटिल संगीत-कल्पना अवश्य छिपी हुई पायी जाती है, पर उसका विस्तार नहीं करते क्योंकि आदिवासी गीतों में पुनरावर्तन का महत्व अपार है जो सारे समाजमन को एक साथ जोड़े रखता है। सारे समाज की समुच्चयित चेतना ही संगीत निर्मिती का मुख्य स्त्रोत है, अत: यह संगीत व्यक्तिवादी नहीं बनता, जिसके चलते गीतों के रचनाकार भी अज्ञात ही रहते हैं। या फिर समाज के भिन्न भिन्न लोग जुड़कर

एक साथ गीतों को 'सवाल जवाब' के तौर पर निर्मित करते हैं, और इस प्रकार हर गीत अपने अपने समाज के नाम से जाना जाता है, जैसे गोंड आदिवासी समाज के गोंडी लग्न गीत।

- आदिवासी गीतों के लयताल देखें तो मालूम होता है यह सारे गीत कुछ अपवादों सहित अधिकतर तीन, चार एवं सात मात्राओं में ही बंधे दिखाई देते हैं। लय के इन ढांचों को हिन्दोस्तानी संगीत में दादरा (३+३ मात्रा), कहरवा (४+४ मात्रा), या रूपक (३+४ मात्रा) जैसे छंद तालों के नाम से जाना जाता है। छंद ताल, जिनसे जुड़ने के लिए किसी बाहरी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती, मनुष्य शरीर की अंदरूनी लय से ही इनका प्रकटन होता है।
- आदिवासी संगीत में अधिकतर प्रकृतिमित्र वाद्यों का प्रयोग होता है – उदाहरण के लिए: ढोल, ढोलक, नगाड़ा, खड़ताल, घुंगरू, बाँसुरी, मोरचंग, पेही, थुड़ी, करनाल, रणसिंगा, दुमदुम, म्हूरी, मांदर इत्यादी। सब से सुंदर अनुभव यह है कि आदिवासी समाज मनुष्य-शरीर को ही एक वाद्य की तरह देख उसी के सहारे अद्‌भुत संगीत निर्माण कर लेता है, हाँ यह जरूर है कि बदलाव की लहर के चलते पिछले कुछ वर्षों से आदिवासी समाज भी अन्य समाजों की तरह इलेक्ट्रॉनिक वाद्यों के सहारे स्टूडियो संगीत में अपनी नयी सांगीतिक छवि ढूंढ रहे हैं।
- मनुष्य-शरीर को ही एक वाद्य की तरह देखने से आदिवासी समाज गायन, वादन एवं नर्तन तीनों एक साथ प्रस्तुत करते रहते हैं, आदिवासी संगीत में इन तीन कलाओं में कोई अलगाव नहीं पाया जाता। तेरहवीं शताब्दी में पंडित शारंगदेव ने 'संगीत रत्नाकर' इस ग्रन्थ में विषद किया था: "*गीतं वाद्यम तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते*" अर्थात गीत, वाद्य तथा नर्तन तीनो मिलकर कर संगीत रचते हैं किन्तु यह एक प्रकट सत्य है कि इस व्याख्या के जन्म से कई शताब्दियों पहले से ही आदिवासी समाज गायन वादन नर्तन का एकत्रित आविष्कार करते आ रहे हैं।
- प्रत्येक आदिवासी समाज अपनी अपनी भौगोलिक स्थितिनुसार गायन का ढंग निश्चित करता है जैसे पहाड़ों में एवं मरुस्थल में रहने

वाले समाज अधिकतर तार स्वर में गायन करते हैं तो नदी किनारे अथवा जंगल के भीतर रहने वाले समाज मंद्र स्वरों में गायन करते हुए दिखाई देते हैं। इसी के साथ पाया जाता है की ईशान्य भारत के आदिवासी समूह अधिकतर अवरोही सप्तक में (डिसेन्डिंग स्केल) में गायन वादन करते हैं, जिस द्वारा उनका दुनिया के दक्षिण-पूर्व देशों के साथ जो आनुवंशिक सम्बन्ध है वो बड़ी खूबसूरती से उजागर होता है।

- संगीत की अन्य विधाओं की तरह कई बार आदिवासी संगीत भी प्रतीकात्मक हो जाता है अत: स्वयं से परे हो, किसी और घटना अथवा स्थिति की ओर निर्देश करता रहता है। उदाहारण के लिए, इन काव्य विषयों की प्रतीकात्मकता देखिये। राठवा भील समाज का एक गीत है:

  "गुलाब नूं फूल बेनी वाड़ी माँ खिलसे, चिंता ना करसो बेनी सुकाई जवासे"

  इस आदिम गीत में एक सहेली दूसरी को सलाह दे रही है: अरी सखी! गुलाब का फूल तो फूलबारी में खिलता ही रहेगा, किन्तु तुम जो चिंता करोगी, सजना सँवरना छोड़ दोगी तो सखी, तुम मुरझा जाओगी।

- हर आदिवासी समाज जन्म से लेकर मृत्यु तक हर अवस्था के लिए विशेष संगीत निर्माण करता है। जैसे गोंड आदिवासियों के लग्न-गीत बड़े ही प्रतीकात्मक होते हैं, जिसमें दुल्हन को बीच में बिठा कर स्त्रियाँ रुदन गीत गाती हैं और लड़की को भी रुलाती हैं। वे जैसे उससे कह रही हों कि बेटी, अभी समय है रो लो- बाद में संसार की ज़िम्मेदारियों को सम्हालते हुए तुम्हे दृढ़ रहना होगा और रोने का भी समय नहीं मिलेगा, तो दूसरी ओर गोंड आदिवासी किसी वृद्ध व्यक्ति के देहांत के बाद मृत्यु का उत्सव करनेवाले गीत गाते है और मृतात्मा की शांति के लिए प्रेमभरी प्रार्थना करते हैं जिससे कि जीव की आगे की यात्रा सुखद हो।

  इन सारी विशेषताओं के चलते आदिवासी संगीत एक समग्रता के

साथ कला एवं शास्त्र के रूप में उजागर होता है परन्तु आदिवासी संगीत के उपर्युक्त लक्षणों को सुनकर, पढ़कर किसी श्रोता, वाचक के मन में यह भ्रम पैदा हो सकता है कि सारे आदिवासी समाज एक ही प्रकार का संगीत निर्माण करते हैं, तो यहाँ इस बात को भी स्पष्ट करना ज़रूरी होगा कि यह सारे आदिवासी संगीत के केवल स्थूल एवं दृश्यमान लक्षण हैं। इसके उपरांत हर आदिवासी समाज कुछ ऐसी खूबियाँ रखता है जो प्रत्येक समाज को एवं उसके संगीत को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती हैं।

उदाहरण के लिए, दर्ज किये गये गीतों को अभ्यासते समय ध्यान में आया कि जैसे शास्त्रीय संगीत के स्वतंत्र घराने होते हैं, वैसे ही प्रत्येक आदिवासी समाज अपनी विशष्ट छाप अपने गीतों पर छोड़ता है। शास्त्रीय संगीत की परिभाषा में कहें तो राठवा भील समाज के गीत अधिकतर सात मात्राओं में बंधे हुए पाए जाते हैं और वे चरण की समाप्ति षड्ज या ने सा पर न करते हुए कोमल निषाद – अथवा शुद्ध धैवत – पर करते हैं, तो दूसरी ओर गामित भील या देहवाली भील समाज के गीत अधिकतर दादरा छंद – तीश्र जाति अर्थात तीन मात्र में समाहित होते हैं – कई गूढ़ अर्थों की ओर इशारा करनेवाला आदिवासी संगीत भले ही स्मृति-परंपरा पर आधारित हो किन्तु उसमें हर संवेदनशील रसिक की कल्पना को उद्दीपित करने की कई संभावनाएं बसी होती हैं। इस अर्थ में यह संगीत कल्पना-परंपरा का भी द्योतक है ।

आदिवासी संगीत की इस लक्षण चर्चा के परिप्रेक्ष्य में एक गंभीर बात सामने आती है कि लगभग लगभग स्वतंत्रता-पूर्व समय तक एक ऑर्गेनिक अर्थात सेंद्रिय अनुभव-विश्व में बसनेवाले, एवं अपने आप को पहले कभी 'आदिवासी' या 'कलाकार' न बताने वाले यह समाज स्वतंत्रता प्राप्ति पश्चात सरकारी – गैर-सरकारी उत्सवों में, प्रदर्शनों में प्रेक्षकों को रिझानेवाले 'आदिवासी कलाकार' बन कर प्रकट हुए हैं। अपने संगीत का, चित्रकला, हस्तकला, शिल्पकला का विक्रय भी कर रहे हैं। जगह-जगह 'आदिम कला' संग्रहालय तैयार कर रहे हैं। इन्हीं विषयों पर आधारित चर्चासत्रों का आयोजन कर रहे हैं। साथ ही साथ अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता की एवं राजकीय पहचान और अधिकारों की लड़ाई में 'आदिवासी गीत-संगीत' रच कर, बड़ी सजगता

से उनका एक साधन की तरह उपयोजन भी कर रहे हैं। समाज के हर तबके की तरह आदिवासी प्रतिवेष भी बदल रहा है, आदिवासी का श्वास-उच्छ्वास बदल रहा है और जैसे हम जानते हैं कि संगीत एक अमूर्त कला होने के साथ साथ एक प्रवाही, अस्थायी कला है - जो काल-सापेक्ष है, मनुष्य के उच्छवासों से जुड़ी। जिन-जिन घटनाओं का प्रभाव मनुष्य के उच्छ्वास पर होता है, वह सारी घटनाएँ मनुष्य के संगीत को भी अवश्य प्रभावित करती हैं। ऐसे में ध्वनि और दृश्य से जुडा हुआ एक सेंद्रिय अनुभव होने से लेकर एक सामाजिक-राजकीय-सांस्कृतिक साधन बनने तक स्वयं को फैलाने वाले 'आदिवासी संगीत' की कैसी है यह यात्रा?

निस्संदेह आज 'आदिवासी संगीत' यह एक बहुआयामी संज्ञा बनकर उभर आयी है, इसका एक महत्वपूर्ण कारण है। यह संज्ञा स्वयं आदिवासियों को, राज्यकर्ताओं को, संस्कृतिकर्मीयों को, शिक्षाविदों को, कलाकारों को एवं समाज के अन्य लोगों को भिन्न भिन्न प्रकार से दिखाई देती है। ऐसे में इस संज्ञा की जड़ तक जाना यह चक्रव्यूह को भेदने जैसा है। अब प्रश्न यह उठेगा कि चक्रव्यूह भेदन की यह लालसा क्यों? तो इसका जवाब यह है कि एक ओर तो मैं बड़ी तीव्रता से अनुभव करती हूँ कि मेरा अस्तित्व आदिवासी के अस्तित्व से अभिन्न है, परन्तु इसके साथ साथ एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि प्रत्येक आदिवासी समाज की अपनी एक स्वयंपूर्ण प्रज्ञा है, (अ यूनीक नॉलेज सिस्टम) और मेरे तथाकथित मुख्य-प्रवाहीय अस्तित्व का इस अनोखी प्रज्ञा से जुड़ना अपने आप में एक अद्‌भुत घटना है। यह असामान्य आदिवासी प्रज्ञा समाज की सांस्कृतिक चेतना को कई नए आयाम प्रदान कर सकती है, एक नव-मानव-संवेदना को जन्म भी दे सकती है. यही कारण है कि एक मनुष्य, कलाकार, कार्यकर्ता एवं शोधक के रूप में अपनी सारी मर्यादाओं को स्वीकारने के उपरांत मैं इस प्रयास में हूँ, कि 'आदिवासी संगीत' इस अद्‌भुत विधा को अंतरबाह्य टटोल कर देखूं और आदिवासी संगीत कला एवं शास्त्र विचार को एक अधिक बड़े विश्व के सामने प्रस्तुत करूँ।

सन्दर्भः

१) हेन्री मतिस्से का उद्धरण - "You must forget all your theories, all your ideas before the subject. What part of these is really your own will be expressed in your expression of the emotion awakened in you by the subject." https://www-goodreads-com/author/show/118314.Henri_Matisse

२) ध्वनी के गुणधर्म - http://personal-cityu-edu-hk/~bsapplec/characte.htm

३) डेव्हिड हार्डीमन - 'Gandhi: In His Time and Ours: how Gandhi and Elwin became instrumental in using and popularizing the terms *Ádivasi and Bhumijan*'– https://books.google.co.in/books?id=qvvgOvby58YC&dq=gandhi+coined+the+term+adivasi&source= gbs_navlinks_s –151

४) कला शब्द की व्युत्पत्ति - http://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/109730/5/05_chapter%202.pdf

५) ६४ कलाएं: http://www.sanskritimagazine.com/india/64-kalas-arts-and-14-vidyas-techniques-of-ancient-india/

६) ART - आर्ट शब्द की व्युत्पत्ति: http://english-ingles.com/en/etymology-of-art/

७) प्रोफेसर गणेश देवी, इमेल चर्चा, ६/१२/२०१६

८) डॉ. अशोक दा रानडे, संगीतशास्त्र व्याख्यानमाला, The Will – A Desire to Sing, जुलाई २०००, मुंबई.

९) प्रोफेसर गणेश देवी, विश्व उत्पत्ति व्याख्यानमाला, सहपेडिया, २००९, वड़ोदरा

१०) भाषा से पहले संगीत: http://www.science20.com/science_20/did_music_evolve_language

११) सिन्धु संस्कृति में मिली सात छिद्रों की बांसुरी: https://en.wikipedia.org/wiki/Prehistoric_music

१२) इस यू ट्यूब व्हिडियो में राठवा भीलों को किकियारी करते हुए सुना जा सकता है- https://www.youtube.com/watch?v=w_dL2ywz2O4

१३) शास्त्र की व्याख्या एवं अर्थ - https://www.facebook.com/bharatasya.bharti/posts/1570591083161406

अध्याय दो

राठवा-भील समाजः इतिहास, संस्कृति एवं संगीत

सर-ज़मीन-ए-हिन्द पर अक्वाम-ए-आलम के 'फ़िराक़'
काफ़िले बसते गए, हिन्दोस्ताँ बनता गया।

-फ़िराक़ गोरखपुरी*

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत में भी विविध जाति-प्रजाति के व्यक्ति और समूहों की पहचान का निर्माण एवं इस पहचान से जुडी अस्मिता की राजनीति बड़ी गंभीरता से सामने आयी। अब तक इतिहास जिन मातहत अर्थात हाशिये पर धकेले गए वर्गों की कोई दखल न लेता था, उन दबाई गयी आवाज़ों को भी सुनना चाहिए, उनके बारे में भी लिखा जाना चाहिए यह मुद्दा उठाया गया, यही मुद्दा आगे जा कर अल्पसंख्यांक इतिहास - (माइनॉरिटी हिस्ट्री) के रूप में उजागर हुआ। 'माइनॉरिटी हिस्ट्री' का मुख्य मुद्दा एवं संघर्ष यही रहा है कि इतने वैविध्यपूर्ण देश का केवल एक ही कथन (नैरेटिव) कैसे हो सकता है? अतः उदारमत केंद्रित लोकशाही को अल्पसंख्यांक मानस का भी प्रतिनिधित्व करना चाहिए![१]

'अल्पसंख्यांक मानस' का रूप कितना विराट हो सकता है, इस बात का तीव्र अनुभव हुआ जब मैंने अपने राठवा भील मित्रों से उनके अद्भुत सृष्टि-निर्माण-मिथक[२] (क्रिएशन मिथ) सुने। बचपन से ले कर आज तक कभी इतिहास की एक भी पुस्तक में मैंने भीलों के इतिहास को लिखा हुआ न पाया था पर अपने भील मित्रों के गीत, कथाएं, गाथाएं, मिथक और उनसे जुडी इतिहास की बातें सुनकर मैं दंग रह गयी।

उदाहरण के लिए, राठवा समाज का पारंपरिक भित्तिचित्र 'पिठोरा'

बनाते समय 'बडवा' अर्थात समाज का गुरु अथवा मान्त्रिक-तांत्रिक जब अपनी विश्वउत्पत्ति गाथा सुनाता है, तो हम बूझ ही नहीं पाते कि यह गाथा राठवा समाज की सार्वजनीन चेतना से उजागर हुई कोई अद्‌भुत कल्पना है, या उनकी सामूहिक स्मृति से उभरा कोई ऐतिहासिक तथ्य? प्रतीत होता है, जैसे यह भील अपने पूर्वजों से एकाकार होने की तड़प के चलते इतिहास को एक रैखिक समय से मुक्त कर रहे हों। और इतिहास इन भीलों के लिए कोई मृत अतीत नहीं किन्तु एक जीवंत, गतिशील अनुभव हो। स्मृति एवं कल्पना का एक रोमांचकारी मिलाप, जो इन्हें स्थल-काल से परे एक ध्यानमग्न अवस्था (ट्रांस) की ओर ले जाता है।

कौन हैं राठवा भील? क्या है इनका इतिहास? कैसी है इनकी संस्कृति? इनका जीवन और संगीत?

एक मत प्रवाहानुसार 'विलु' अथवा 'बिलु' इस द्रविड़ी मूल के शब्द से 'भील' शब्द की उत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है तीर-कमान। भीलों का ज़बरदस्त तीर कमान चलाना एवं सटीक निशाना साधना यह बात तो सर्वज्ञात है, पर कुछ उर्दू भाषा के तज्ञ मानते हैं की 'भील' शब्द अंग्रेजी शब्द 'एबोर्जिनल'[३] अर्थात 'मूल निवासी' से भी मिलता जुलता है.

तुर्कों से घनघोर संघर्ष के चलते पन्द्रहवीं शताब्दी में, १४८० के आसपास कई भील समूह नया बसेरा ढूँढने मध्य भारत के जंगल, पहाड़ एवं नदियों की तरफ बढे किन्तु मध्य भारत के कुछ प्रदेशों में पश्चिम भारत की ही तरह उस दौरान राजपूतों का वर्चस्व था। अंग्रेज भाषाशात्री ज्योर्ज ग्रियर्सन कहते हैं[४] कि राठवा-भील राजपूत एवं भील समूहों के संकर से उत्पन्न हुई प्रजाति है। अलीराजपुर, मध्यप्रदेश में यह समूह 'भिलाला' इस नाम से, तो छोटा उदेपुर गुजरात में यह समूह 'राठवा' के नाम से जाने जाते हैं। १४३७ के क़रीब आनंद देव राठौर नामक राजपूत शासक ने राठ विस्तार में अपना 'आली' नामक राज्य स्थापित किया था। इसी राठ विस्तार में भील समूह भी आ बसे थे। इस कारण से मध्ययुग में राजपूत एवं भीलों में सामाजिक-सांस्कृतिक-राजकीय स्तर पर बड़ा आदान प्रदान रहा (इस प्रक्रिया को भीलों का राजपूतीकरण

कहें या राजपूतों का भीलीकरण! यह प्रश्न सम्भवत: इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों एवं मानववैज्ञानिकों के अध्ययन के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए।)

बॉम्बे गजेटियर, १८२५ में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि राठवा भील अलीराजपुर (मध्यप्रदेश) से छोटा उदेपुर (गुजरात) की ओर स्थलांतरित हुए। यदि भारत का नक्शा देखा जाय तो स्पष्ट रूप से नज़र आता है कि आज भी अलीराजपुर और छोटा उदेपुर एक दूसरे के पड़ोसी हैं। परन्तु रसप्रद बात यह है कि राठवा भीलों के सृष्टि निर्माण मिथक इन्हीं सारी ऐतिहासिक बातों को संगीतमय रूप में उजागर करते हैं:

"कोना कोना नाम पाड्यां, काशीराम बोमण यार आहा
कोना कोना नाम पाड्यां, काशीराम बोमण यार आहा..
....यार आहा रूडी रतुमाळ नामो पाड्यां काशीराम बोमण..
यार आहा वाघस्थळ देवो सतियो होयलो काशीराम बोमण..."

मैं हमेशा से इस उलझन में रही कि इस गाथा में प्रयुक्त 'यार आहा..' यह दो ध्वनियाँ हैं या शब्द? यदि यह शब्द हैं तो इन शब्दों का क्या अर्थ हो सकता है? परन्तु इन गाथाओं को सुनते सुनते यह अहसास हुआ कि ध्वनियाँ ही अपने आप में एक अर्थ होती हैं। भीलों की विश्वौत्पत्ति गाथा सुनकर यह ज्ञात होता है कि संगीत केवल अर्थपूर्ण शब्दों से ही निर्माण नहीं होता, बल्कि ऊपर-ऊपर से निरर्थक दिखाई देने वाले कई नादमय शब्द अद्‌भुत संगीत सामग्री बन कर उभरते हैं और गाथा को एक नया, सांगीतिक अर्थ भी प्रदान करते हैं। जैसे कि यह दो शब्द, 'यार आहा..'

जैसे-जैसे यह गाथा आगे बढती है, इस में रतुमाळ पर्वत, जहाँ राठवा देव-देवियाँ निवास करते हैं, और राठवाओं के स्थानिक देवता जैसे बाघस्थळ सतियो, इन सब का भी उल्लेख मिलता है।[५] इन सारी घटना श्रृंखलाओं को जोड़कर देखा जाय तो 'राठवा' शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट हो जाती है। राठौर राज के राठ विस्तार में देवी रानी काजल के रतुमाळ पर्बत के इर्दगिर्द बसनेवाले और अपनी उत्पत्ति गाथा राहा-गायणा

सुनाने वाले – 'राठवा'!

राठवा भीलों के पितरदेव बाबा पिठोरा की जन्म गाथा भी बड़े आश्चर्यों से भरी पडी है। बाबा पिठोरा का भित्ति चित्र बनाना राठवा समाज के लिए एक अत्यंत पवित्र कार्य माना जाता है। समाज के लोग अलग-अलग तरह की बीमारियाँ, दु:ख, मुसीबतों के समय पर मन्नत माँगते हैं, और अपनी इच्छाएं पूरी होने पर अपने घर की दिवार पर पिठोरा चित्र बनाते हैं। लखारा, याने कि चित्रकार जो बाबा पिठोरा का भित्तिचित्र बनाता है, बडवा अर्थात समाज का गुरु-तांत्रिक-वैद्य जो बाबा पिठोरा की जन्म-गाथा राहा-गायणा सुनाते हुए सारी विधियां सम्पन्न करता है, एवं राठवा समाज के वे लोग जिनके घर-परिवार में बाबा पिठोरा का अनुष्ठान हो रहा है, यह सारे मिलकर इस अद्‌भुत गाथा को आकार देते हैं, और सुनाते हैं अपने पितर देव बाबा पिठोरा की 'जनम कहानी'।

कहानी बाबा पिठोरा की

देवों के देव – इंद्र (इंद) देव की सात बहनें हैं। एक दिन उनकी सब से छोटी बहन 'काली कोयल' जो अभी अभी युवा हो रही है, घूमते-घूमते राहताळईया नाम का पर्वत लाँघकर नरा नाम के पर्वत पर पहुँच जाती है। वहाँ उसे मिलता है, कन्दुराणा नाम का एक राजकुमार। कोयल और कंदु दोनों युवा हैं, अधीर हैं। ऐसे में शीघ्र ही एक दूसरे की ओर आकर्षित हो जाते हैं, और देखते ही देखते एकाकार भी।

ए... देहे जोवुन से, काली रेल कोयल

"ए... देहे जोवुन से, काली रेल कोयल,
ए... आम्बावाड़ीया मां बोली रे,
यार आहा आम्बावाड़ीया मां बोली रे, काली रेल कोयल,
ए.. देवो नि देवलो ले..
यार आहा देवो नि देवलो ले काली कोयल
ए... देहे न देहे गोतुं के..
यार आहा देहे न देहे गोतुं रे काली रेल कोयल..."[६]

कन्दुराणा से संग किए कुछ दिन बीतते ही काली कोयल समझ जाती है की वह गर्भ धारण कर चुकी है। उसकी इस विशेष अवस्था को भाँप लेती है कोयल की भाभी और इंद की पत्नी हतुंरानी। वह कोयल को ताने मारने लगती है कि "अरी ओ कुँवारी! तेरा पेट क्यों इतना बढ़ रहा है?" अब अपने भाई इंद के कोप से डर कर काली कोयल जंगल में छिप जाती है। नौ महीने नौ दिन भरते ही वह एक बड़े ही तेजस्वी पुत्र को जन्म देती है। पर वह जानती है कि बालक को अपने साथ नहीं ले जा सकती। बड़े भारी हृदय से कमल की पंखुड़ियों में रखकर कोयल अपने नवजात बालक को एक झरने में बहा देती है।

बहते-बहते बालक वहाँ पहुँचता है, जहाँ काली कोयल की दो बड़ी बहनें रानी काजल और रानी माखल पानी भर रही होती हैं। रानी काजल जो बाँझ है, और संतान के लिए तरस गयी है, उसकी नज़र इस तेजस्वी बालक पर पड़ती है और वह उसे सीने से लगा लेती है। यही बालक है पिठोरा, जो आगे चलकर राठवा समाज का पितर देव कहलाया।

एक दिन खेलते-खेलते पिठोरा पानी से भरा मटका फोड़ देता है तो रानी काजल झुंजला कर बोल उठती है - "हाँ, फोड़ो, और मटके फोड़ो.. तुम्हारा मामा इंद बैठा ही है, तुम्हे अपनी आधी संपत्ति देने!" यह बात सुनते ही पिठोरा चौंक जाता है, क्या इंद देव मेरा मामा है? वह तो देवाधिदेव, इतना बड़ा राजा है, कम से कम वह अवश्य जानता होगा, मेरे माता पिता कौन हैं? पिठोरा इंद के दरबार में पहुँच कर स्वयं का परिचय देता है। और पूछता है इंद से "कहो मामा, कौन हैं मेरे माता पिता?" इंद पिठोरा को देख कर प्रसन्न हो उठता है, उसे गले लगा लेता है, कहता है: "चलो, अब तुम्हारा ब्याह रचाया जाय पिठोरा।" पर पिठोरा जवाब देता है "जब तक मैं न जानूंगा किसका पुत्र हूँ मैं, कैसे कोई मुझ से अपनी बेटी ब्याहेगा?" अब इंद देव सोच में पड़ जाता है। कहता है, "ठीक है, मैं महासभा बुलाता हूँ, उसमें सारे देवी देवता, राजा रानी एवं गाँव के लोग- सब को निमंत्रित करता हूँ, उन्ही सब में तुम्हारे पिता भी अवश्य होंगे, पर तुम्हे अपनी अन्त:प्रज्ञा जगाकर उन्हें पहचानना होगा। बोलो हो तैयार?" पिठोरा कहता है "तैयार।"

इंद के दरबार में महासभा खचाखच भरी है, तभी पिठोरा प्रवेश करता

है। राजा – महाराजाओं के आसन की ओर दृष्टि डाल अपनी ऊँगली उठाता है, ठेठ रजा कन्दुराणा की तरफ़। सारी सभा आश्चर्यचकित हो जाती है। पिठोरा कन्दुराणा और काली कोयल का पुत्र है– यह सत्य प्रकट हो जाता है। कन्दुराणा अपने पुत्र पिठोरा को सीने से लगाता है, यह देख इंद का ह्रदय आनंद से भर जाता है। पूरी सभा में उल्लास छा जाता है। इसी आनंदमयी वातावरण में पिठोरा और पिठोरी का ब्याह रचाया जाता है।

राठवा समाज पिठोरा को अपना पितर देव मानता है क्योंकि पिठोरा बस एक नज़र ही में अपने पिता को पहचान लेता है। आज तक मनुष्य जीवन में यदि कोई रहस्य सब से बड़ा माना गया है, तो वह है जन्म–रहस्य। हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? हमारा मूल क्या है? ऐसे अस्तित्ववादी, दार्शनिक प्रश्नों का अपनी अन्त:प्रेरणा से भेदन करने वाला पिठोरा ही राठवा भीलों का पूर्व–पुरुष, पितर देव बन सकता है।

पिठोरा चित्र गाथा

'गाथा रिसर्च आर्काइव' के अनुसार पिठोरा भित्तिचित्रों का बीज पुरातन गुफाचित्रों में पाया जाता है। पिठोरा चित्रों में पाए जानेवाले सात घोड़े वास्तव में सतपुड़ा पर्वतों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सतपुड़ा जहाँ मध्य युग से राठवाओं का वास्तव्य रहा है। पिठोरा चित्रों में जो आयताकार बाड़ बनायी हुई नजर आती है, वह पश्चिम की ओर अरब सागर, दक्षिण की ओर भरूच तथा ईशान दिशा में इंदौर को निर्देशित करती है। इसके उपरांत राठवा समाज एक कृषि–प्रधान समाज है, इस कारण से इन चित्रों में खेत–खलिहान, पेड़–पौधे, पशु–पक्षी, धरती–आकाश, सूरज–चंदा ऐसे प्राकृत तत्वों के साथ साथ हाट–बाजार, रेलवे, हवाई जहाज, कंप्यूटर, पिस्तौल और पुलिसवाले ऐसे विषय भी नजर आते हैं। एक तरह से पिठोरा चित्र राठवा भीलों के समग्र स्मृति–विश्व एवं कल्पना–विश्व को प्रतिबिंबित करता है, जिससे यह बात उजागर होती है, कि राठवा समाज अपनी स्मृति एवं कल्पना के माध्यम से एक अधिक विशाल विश्व से बड़ी सटीकता से जुड़ा हुआ है।

पिठोरा चित्र के कई कलात्मक अर्थ तो हैं ही, परन्तु एक ऐतिहासिक

तथ्य भी इसमें छिपा हुआ नजर आता है,जहाँ पर पिठोरा चित्र को एक नक्शे की तरह देखा गया है। एक मान्यतानुसार पिठोरा चित्रों की परंपरा ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास शुरू हुई जब भरूच उत्तर की ओर से आनेवाले व्यापारियों के लिए एक महत्त्व का व्यवसाय-केंद्र हुआ करता था परन्तु उस समय भरूच और उसके आसपास के रास्ते यात्रा के लिए बड़े कठिन और खतरनाक थे। ऐसे में इस विस्तार में रहने वाले भीलों ने स्वयं के गुजारे के लिए एक नया पेशा ढूंढ लिया था: बाहर से आनेवाले व्यापारियों के मार्ग-रक्षण का. यह भील बड़े ही फुर्तीले और चतुर थे। नर्मदा नदी और उसके आसपास के बीहड़, जंगल और पहाड़ के चप्पे-चप्पे से वे वाक़िफ़ थे। इनसे बेहतर मार्ग-रक्षक तो व्यापारियों को मिल ही नहीं सकते थे। स्वयं की सुरक्षा के बदले में यह व्यापारी भील-मार्ग-रक्षकों को चाँदी के सिक्के भेंट करते। इस विस्तार की गूढता बनी रहे, एवं अपना व्यवसाय सुरक्षित रहे इस कारण से भीलों के मुखिया अपने घर की दीवार पर कुछ संकेतात्मक चित्र बनाने लगे, जैसे सतपुड़े के सात पर्वत सात घोड़ों द्वारा दर्शाए गए. उसी प्रकार चित्र में दिखाए गए दो शेर वास्तव में नर्मदा नदी के मुख के प्रतीक हैं।

अपने मुखिया से वफ़ादारी निभाने वाले मार्ग-रक्षक भील अपने अपने घरों की दीवारों पर यह सांकेतिक चित्र बनाने लगे और रेवाकाँठा (नर्मदा तट) के निवासी वफ़ादारों को 'राठवा' नाम से पुकारा जाने लगा। उन्हें सतपुड़ा पर्वत माला लाँघने की विशेष अनुमति भी दी गयी। इसके विपरीत, जिन्होंने अपने मुखिया का अनुकरण करने से मना कर दिया, उन भीलों को 'तडवी' नाम दिया गया। भित्तिचित्र द्वारा सांकेतिक नक्शा बनाने की यह तरकीब सन १८१२ तक चली। उसके बाद अंग्रेज शासकों ने इस पर रोक लगा दी,[७] परन्तु तब तक चित्र बनाने की परंपरा तो चल पड़ी थी। धीमे-धीमे इस चित्र में राठवाओं के पितृ-देव का और अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक विषयों का भी प्रवेश हुआ और इस भित्तिचित्र को 'पिठोरा' इस नाम से संबोधित किया जाने लगा। इस प्रकार, इस भित्तिचित्र को एक गंभीर सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिष्ठान भी प्राप्त हुआ।

रोचक बात यह है कि आज राठवा समाज का सामाजिक-सांस्कृतिक

अधिष्ठान होने के साथ साथ पिठोरा चित्र एक अद्‌भुत दृश्यकला के रूप में भी अस्तित्वमान है। कई कला-प्रदर्शनियों में, उत्सवों में पिठोरा चित्रों का प्रदर्शन एवं विक्रय होता रहता है, आज कम से कम पचास प्रकार के पिठोरा चित्र पाए जाते हैं।

एक सांकेतिक नक्‌शे से लेकर, एक गंभीर अधिष्ठान के रूप में उजागर हो, एक सुंदर कलावस्तु में अपने आपको परिवर्तित करने वाले 'पिठोरा' की यह यात्रा सचमुच एक आश्चर्य से कम नहीं। लगता है, राहा गायणा गाते-गाते चित्रित किए जाने वाला यह पिठोरा जैसे एक संगीतमय चित्र है। यह बाबा पिठोरा चित्र जैसे कई अद्‌भुत आश्चर्यों से भरा हुआ है, उसी प्रकार राठवा समाज का गीत-संगीत भी अद्‌भूतों से भरा हुआ है। राठवाओं के गीतों को बारीकी से सुना जाय तो इनमें समग्र राठवा जीवन झलकता हुआ दिखाई देता है।

राठवा समाज के गीतः

कारियुं सेतर सेयडूं रे..

"*कारियुं सेतर सेयडूं रे.. मोवासी नो भिलडो,*
सेडी सेडी ने रस वायळूं रे, मोवासी नो भिलडो
सेलियो हारा जोयडाँ रे... मोवासी नो भिलडो
ओयरो जुवार उग्यो बाजरो रे, मोवासी नो भिलडो!"

भावार्थः अरे ओ मेवास के भील, तूने काली मिटटी से भरी सख्त जमीन की जुताई कर कर जवारी बोई, पर देख तो, वहाँ बाजरा उग आया है!

वैसे देखा जाय तो जब भील परिवेश से बाहर निकलकर यह गीत एक अधिक विशाल विश्व का हिस्सा बनता है तब इस गीत को पढ़ने-सुनने वाला हर वाचक-श्रोता स्वतंत्र रूप से इस गीत से जुड़ जाता है। श्रोता अपने अपने अनुभव विश्व से इस गीत को जोड़कर आदिवासी-साहित्य को अवश्य कुछ भिन्न अर्थ एवं नए आयाम प्रदान कर सकता है। परन्तु ऐसा करना क्या उचित होगा? मुझे लगा, मुझे इस गीत पर अपने अर्थ नहीं थोपने चाहिए, फिर सोचा क्यों न अपने राठवा मित्र से ही इस गीत का अर्थ पूछा जाय, तो मित्र नारण ने मुस्कुराकर

कहा: "*रांची बेन, आमां आपडा जनम नूं गूढ़ छुपाएलूँ छे!* - अर्थात यही तो जन्म-रहस्य है, दो भिन्न प्रकृतियाँ मिलकर एक तीसरे ही अस्तित्व को जन्म देती हैं। इस गीत में प्रकृति का यही सच समझाया गया है।" ध्यान देने योग्य बात है कि यह गीत वर्षा ऋतु में राठवा भीलों के 'उजाणी-दिवासो' इस उत्सव-पर्व में गाया जाता है, जिस समय खेतों में नए बीज बोने का प्रारंभ होता है।

इस गीत को सुनते हुए अपने आप एक सिद्धांत उजागर होता है कि यदि आदिवासी संगीत को समझना है, तो आदिवासियों के भौगोलिक-सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को समझना होगा। और साथ ही, यदि उनके भौगोलिक-सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को समझना है, तो उनके संगीत को समझना ही होगा।

शोध की दुनिया इस अभ्यास-शाखा को 'एथनोम्युजिकोलोजी' अर्थात संस्कृति-संगीत-शास्त्र के नाम से जानती है। विश्वभर के संगीतज्ञ विभिन्न संस्कृतियाँ और उनके संगीत का अन्योन्य सम्बन्ध समझने और समझाने में जुटे हुए हैं परन्तु यह एक कठिन कार्य है, क्योंकि संस्कृति और संगीत का सम्बन्ध जटिल होता है, इसे समझने के लिए विभिन्न समाजों के साथ बड़ा लंबा समय व्यतीत करना होता है, समाज के अंदरूनी अस्तित्व का हिस्सा बनना होता है - जल्दबाज़ी छोड़ धीरज का रास्ता अपनाना होता है, तब जाकर अभ्यासक किसी सैद्धांतिक निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। इस सब के उपरांत भी संस्कृति-संगीत-शास्त्र के सारे आयामों को एक ही जीवन में ताड़ लेना तो संभव नहीं, परन्तु उन आयामों की कुछ सुर्खियाँ पा लेना भी एक शोधक के लिए बड़ी उपलब्धी होती है।

जल्दबाज़ी से किये हुए सैद्धांतीकरण के बारे में 'शेर्लोक होम्स' के रचयिता लेखक आर्थर कॉनन डॉयल ने कहा था, "*बिना किसी ठोस आँकड़े के कोई सैद्धांतीकरण करना एक भयंकर गलती होगी। असंवेदनशील ढंग से कोई अपने आँकड़ों को मनपसंद सिद्धांतों में ठूंसना शुरू कर देता है, इसके बजाय वे सिद्धांत आँकड़ों के हिसाब से होने चाहिए।*"[८]

संस्कृति एवं संगीत का सम्बन्ध तो पेचीदा होता ही है, परन्तु इस

संस्कृति और संगीत को निर्माण करनेवाले मनुष्यों का अन्य मनुष्यों से जो अन्योन्य सम्बन्ध होता है, वो अधिक पेचीदा होता है। राठवा समाज में *उजाणी-दिवासो* पर्व पर गाये जाना वाला यह गीत देखिये, जो देवर-भाभी के बीच हो रहे संवाद पर आधारित है।

दियर भोजाय बे गोळवां जयलां

दियर भोजाय बे गोळवां जयलां
चयडो मेंदी नो रंग
मेंदी रंग लायगो..
वाटी कुटी ने भयरो वाटको ने
भाभी रंगो तमारा हाथ
मेंदी रंग लायगो
हाथे रंगी ने हूँ केने बतावूं,
मारो पैयनो पड़ियो परदेश
मेंदी रंग लायगो
दियर भोजाय बे गोळवां जयलां
चयडो मेंदी नो रंग
मेंदी रंग लायगो...

भावार्थ: एक दिन देवर भाभी खेत देखने जाते हैं, लौटते समय देवर मेहदी के कुछ पत्ते तोड़ता है और घर जाकर उन्हें कूट कर मेहदी का वह घोल एक कटोरे में भर देता है। वह कटोरा अपनी भाभी को देते हुए कहता है, "लो भाभी.. अपने हाथों पर इस मेहदी को रचा लो.. भाभी उस मेहदी भरे कटोरे को देखकर अपने देवर से कहती है.. मेहदी तो रचा लूँ अपने हाथों पर, पर मेहदी भरे यह मेरे हाथ देखेगा कौन? मेरा पी तो परदेस में है.."

यह गीत गुजरात के भील परिवेश के साम्प्रत वास्तव को तीव्रता से अधोरेखित करता है। कैसा है यह भील परिवेश आज? यह सर्वज्ञात बात है कि जब से जंगलों पर सरकार ने नियंत्रण करना शुरू किया, तब से जंगलों पर आदिवासियों का अधिकार गिना-चुना ही रह गया,[९] उनकी

बस्तियों के आसपास की नदियों पर भी बाँध बँध चुके हैं और वहाँ के पहाड़ फोड़-फोड़कर 'शहर निवासी' मनुष्य वहाँ नित नए कारखाने बना रहे हैं। लगभग सारे भीलों के अनगिनत चांदी के ज़ेवर तो कब के साहूकार खा गए हैं। इन सब में पिसा एक विशाल आदिवासी वर्ग, रोजी रोटी पाने की आस में शहर का एक गुमनाम मजदूर बन के रह गया है। जब यह आदिवासी मजदूरी करने अपने गाँव से दूर निकल जाता है तब उसकी पत्नी गाँव के घर में ही रह जाती है। अपनी पति की अनुपस्थिति में अपने देवर और परिवार के अन्य सदस्यों के साथ खेत-खलिहान में काम करती है, घर सम्हालती है, बच्चों को और सास ससुर को देखती है। ऐसे में देवर-भाभी के बीच जो विशेष अनुबंध और संवाद निर्माण होता है, उस संवाद को यहाँ एक गीत बनाकर गा रहे हैं राठवा भील।

इस गीत के स्वर कैसे हैं? मालूम होता है कि इसमें पाँच शुद्ध स्वर 'सा रे ग प ध सां' प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु उनके लगाव बड़े ही वैचित्र्यपूर्ण हैं! 'सा रे ग प ध सां' इस पंचस्वरीय सप्तक की स्वरावली को हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में भूप अथवा भूपाली राग के नाम से जाना जाता है। एक प्रकार से देखा जाय तो इस भील गीत के यह स्वर आदिवासी संगीत और शास्त्रीय संगीत के अन्त:सम्बन्ध को अधोरेखित करते हैं। यह कहना उचित होगा कि राग रागिनी का शास्त्र रचे जाने के बहुत समय पहले से ही इन रागों के प्राकृत रूप, अलग अलग प्रकार की धुनें मनुष्य समाजों में अस्तित्वमान रहे हैं। बाद में, अर्थात छठी शताब्दी में ऋषि मातंग ने सर्वप्रथम 'राग'[१०] इस संकल्पना का उच्चारण किया अपने 'बृहद्देशी' ग्रन्थ में। जहाँ पर राग का अर्थ ध्वनि का कर्णप्रिय आरोहण-अवरोहण बताया गया है। इस अर्थ में सारी कर्णप्रिय प्राकृत धुनें भी राग कहलाई जा सकती हैं, परन्तु बार-बार यह विषद करना आवश्यक है कि आदिवासी संगीत का उद्देयेश केवल कर्णप्रिय धुनें निर्माण करना इतना भर नहीं है।

उद्देश्यों की बहुलता एवं प्रदर्शन में अंतर्भूत जटिलता के कारण ही आदिवासी संगीत समग्र विश्व के कई बड़े संगीतज्ञों की जिज्ञासा एवं का अभ्यास विषय रहा है। पाश्चात्य संगीत के कई अभ्यासक, जैसे ब्रूनो नेटल, टिमथी राईस आदि विद्वान् अपने देश के आदिवासी संगीत

को पाश्चात्य स्वर-संगतियों अर्थात कोड्स में लिखने का यत्न करते हैं। उदाहरण के तौर पर, ऊपर दी गयी राग भूप की स्वरावली का कोर्ड प्रोग्रेशन कुछ इस प्रकार से लिखा जाएगा:

(Chord Progression for the tunes similar to the structure of Raag Bhoop)

1	2	3
C Major	D minor	A minor
D Major	E minor	B minor
E Major	F# minor	C# minor
F Major	G minor	D minor
G Major	A minor	E minor
A Major	B minor	F# minor
B Major	C# minor	G# minor

इस उदाहरण से हम समझ सकते हैं कि अलग अलग देश एवं अलग अलग संगीत प्रणालियों के अनुयायी अपने अपने ढंग से आदिवासी संगीत को समझने का एवं लिखने का प्रयास करते हैं.

राठवा भीलों के मेंदी रंग लायगो.. जैसे गीत सुनकर और एक महत्वपूर्ण बात सामने आती है कि तथाकथित मुख्यधारा इस ग़लत धारणा का शिकार है कि आदिवासियों का संगीत एवं कलाएं पुरातन हैं। इनका साम्प्रत जीवन से और विश्व संगीत से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु जैसे जैसे हम राठवा भीलों के भिन्न-भिन्न गीत सुनते जाते हैं, इस ग़लत धारणा का अपने आप खंडन होता जाता है। राठवा भीलों के आज को बयाँ करने वाला एक और गीत देखिये, जहाँ पर शहरों में मज़दूरी कर शहरवासियों के लिए ऊँची इमारतें बनाने वाले भील गा रहे हैं:

सामां नी पेली छेड़े...

सामां नी पेली छेड़े पाया खोदाय छे
पाया खोदाय, एनु शूंयेला काम छे?
हूँ जाणु नाम नोरतां जाय छे..
सामां नी पेली छेड़े ईंटो पडाय छे

ईंटो पडाय, एनु शूंयेला काम छे?
हूँ जाणु नाम नोरतां जाय छे..
सामां नी पेली छेड़े बंगला बंधाय छे
बंगला बंधाय, एनु शूंयेला काम छे?
हूँ जाणु नाम नोरतां जाय छे..

भावार्थ: हम रास्ते के इस ओर रहते हैं
रास्ते के उस ओर एक बंगले की नींव डाली जा रही है
हम वहाँ मजदूरी कर रहे हैं
हम वहाँ जमीन खोद रहे हैं
हम वहाँ ईंटे रख रहे हैं
और वहाँ मोटी सी धूल उड़ रही है
इस सब का क्या काम है, हम नहीं जानते
इस सब का क्या काम है, हम नहीं जानते

किसी भी तरह के अर्थ का आरोपण करने की आवश्यकता नहीं इस गीत पर। यह गीत हर प्रकार से स्वयंपूर्ण है। भीलों के ऐसे गीत सुनकर मन ग्लानि से भर जाता है, बार-बार यही ख़याल उठता है कि इंसान की तरक्की किसे कहें? मानव का विकास क्या है? क्या एक समाज को दबाकर ही दूसरा समाज अपनी तरक्की, अपना विकास साध सकता है?

परन्तु यह बात भी उतनी ही सत्य है कि इस दारूण वास्तव के परे, राठवा भीलों का संगीत नित नवीन, तरोताज़ा है जो हमारे मन में जागी हुई इस उदासी, मायूसी को झट से दूर कर देता है। जब राठवा युवक युवतियों के बीच प्रेम पनपता है तो यह सारी विवशता, सारी कठिनाइयाँ भूला कर दोनों एक दूसरे के लिए प्यार भरे, मीठी तकरार भरे गीत गाने लगते हैं:

धीरी धीरी वणझारी धुमेळ लायगी...

धीरी धीरी वणझारी धुमेळ लायगी
तने कळलां नी जोड़ लई आलूँ

वणझारी धुमेळ लायगी
तने घडियाळ नी जोड़ लई आलूँ
वणझारी धुमेळ लायगी
तने हाँसळी नी जोड़ लई आलूँ
वणझारी धुमेळ लायगी

भावार्थ: इस गीत में अभी अभी युवा हो रही कन्या को छेड़ते हुए उसका प्रेमी युवक कहता है:

> अरी ओ बंजारन, तुम इतनी अधीर क्यों हो रही हो, धीरज धरो क्यों.. मैं तुम्हें मेला घुमाने ले जाऊँगा और वहाँ तुम्हारी पसंद के कंगन, घड़ी, हार और कई सारे सुंदर गहने और कपडे दिलवाऊंगा... बस तुम इतनी अधीर, बेबाक हो कर इधर उधर मत घूमो बंजारन...

इस गाने को सुनकर लगा जैसे आदिवासी समाजों में हर संवेदना का, हर अनुभव का गाना बनाकर उसे बड़ी सहजता से गाने की क्षमता है। क्या हम तथाकथित आधुनिक, नगरनिवासी इस अद्‌भुत ध्वनि संवेदन को, इस सहज संगीतमयता को खो चुके हैं? और शायद इस तथ्य को भी कि यह प्रेम ही है जो मनुष्य को हर दु:ख से, हर संकट से उबरने का बल देता है?

मैंने पूछा, इन सारे गीतों के साथ कौन से वाद्य-यंत्र - कब और क्यों बजाये जाते हैं? तो मित्र नारण ने कहा: "चोमासे (वर्षा ऋतू) में हवा गीली सी, सूरज भी बादल में छिपा सा, तब हम पीहा/पेहा याने मोटी बाँसुरी (अ फ्लूट विद अ बिग रेजोनेटर) बजाते हैं। दिवासा त्यौहार पर शुरू हुआ यह पेहा वादन लगभग दशहरे तक चलता है।"

पेहा या पीहा वादन से जुड़े गीत भी हैं - "*पीहा वगाड़े मारा भाया, पीहा ना दाडा आवी रेला...*" (अरे मेरे भाई पीहा/पेहा बजाना शुरू करो, पीहा के दिन आ गए हैं) नवरात्रि दशहरा के अवसर पर राठवा महिलाएं *पीहा* वादन के साथ साथ *गरबा* गाती हैं। दशहरे के बाद धीमे धीमे जाड़े के दिन आते हैं, तब राठवा भील पेही, और वांसळी (बाँसुरी) बजाने लगते हैं। बसंत की ऋतू और होली के समय जब हवा सूखने

लगती है, तब भी हम पेही, छोटी बाँसुरी ही (अ फ्लूट विद अ स्माल रेजोनेटर) बजाते हैं। विवाह के मंगल अवसर पर शरणाई यानि शहनाई भी बजती हैं। पेहो, पेही, वांसळी...यह सारे वाद्य राठवा समाज के वाद्य-यंत्र जानकार ही बना पाते हैं। यह सारे वाद्य राठवा समाज की साप्ताहिक हाट में आज भी बेचे जाते हैं।

खास बात यह है कि राठवा युवक-युवतियाँ होली के अवसर पर दो हफ्ते पहले से ही होली जलाने की जगह पर एकत्रित होकर ढोल पेही की सुर-लय पर नाच-नाच कर प्रेमगीत गाते हैं।

आयवो पूनमियो मेळो रे...

आयवो पूनमियो मेळो रे ओली जुवानडी
ओली सोरी आयवो पूनमियो मेळो रे लोल
मेळे जशूं ने शूं ए खाशूं रे ओ शेली जुवानडी
मेळे जशूं ने शूं ए खाशूं रे लोल
तारो टको ने मारो पैसो रे ओ शेली जुवानडी
ओली सोरी तारो टको ने मारो पैसो रे लोल
टका पैसा नी बर्फी लेशूं रे ओ शेली जुवानडी
ओली सोरी टका पैसा नी बर्फी लेशूं रे लोल

भावार्थ: अरे ओ मेरी प्यारी सुंदरी, इस पूनमिये (होली पूर्णिमा) पर हम मेले में मिलेंगे, घूमेंगे, नाचेंगे, गायेंगे... और तुम्हारा-मेरा दोनों का मिलाकर जो पैसा-टका है हमारे पास, उससे बर्फी खरीद कर खायेंगे... (और फिर धीमे से सब की नजरों से ओझल होकर साथ-साथ गाँव से दूर भाग जायेंगे)

यह 'भगोरिया' प्रथा भील-होली की खासियत रही है जहाँ एक दूसरे से प्यार करने वाले युवक-युवती साथ में भाग जाते हैं, और उनके गाँव लौटने पर भील समाज उनको एक युगल के रूप में स्वीकार कर लेता है। वास्तव में प्रेम की मुक्त अभिव्यक्ति का प्रतीक है भीलों की होली और भगोरिया प्रथा।

होली भीलों का सब से बड़ा त्योहार है। एक और रोचक बात,

राठवा भील होली को एक परदेसी व्यक्ति के रूप में देखते हैं। और कहते हैं "जैसे परदेस से कोई खास मेहमान साल में बस एक बार आता है, पर साथ में सुंदर भेंट वस्तुएँ लाता है, उसी प्रकार रंग-बिरंगे फूलों को और ख़ुशनुमा मौसम को अपने साथ ले कर होली बाई पधारती है, हमारे यहाँ साल में बस एक बार। हम जहाँ कहीं भी हों, होली के समय सारे काम-धाम छोड़ कर अपने वतन होली बाई से मिलने लौट ही आते हैं"

आयवो पूनमियो मेळो रे ओली जुवानडी...

यह गीत हमें हिन्दुसतानी संगीत के सारंग राग की याद दिलाता है। और एक ख़ासियत ऐसी की सारंग से मिलती जुलती धुनें राजस्थान मारवाड़ जैसे प्रदेशों में भी बहुत सुनने में आती हैं। इस ख़ासियत से आदिवासी प्रान्तों का आपस में जो सांस्कृतिक सम्बन्ध है, वो भी स्पष्ट हो जाता है। इन सारे भील प्रान्तों में ढोल और बाँसुरी के विभिन्न रूप पाए जाते हैं।

जैसे हमने पहले अध्याय में देखा, ढोल एवं बाँसुरी को आदिवासी समाज अपने आदि वाद्य मानते हैं। उसी प्रकार राठवा आदिवासी भी ढोल को ही अपना आद्य वाद्य बताते हैं परन्तु ढोल के साथ जब तक थाली न बजायी जाय, ढोल वादन अधूरा रहता है। लम्बे समय से ढोल वादन करने वाले ज्येष्ठ ढोली पूरे राठवा विस्तार में खास सम्मान पाते हैं, लोक साहित्य में उनका नाम गढ़ा जाता है और इस प्रकार यह ढोली गीतों में अपना नाम पा कर वे अमर हो जाते हैं।

परन्तु इन ढोलियों के ढोल वादन को रोमांचक बनाने के पीछे राठवा समाज के किसी न किसी बुर्ज़ुर्ग एवं मर्मज्ञ कारीगर-कलाकार का हाथ होता है, एक ऐसा कारीगर-कलाकार जो ढोल की अंतर्बाह्य बनावट और बुनावट को खूब समझता है, ढोल की आवाज़ को ऊपर कैसे चढ़ाना है, नीचे कैसे उतारना है.. ढोल की कौन सी डोरी खींचकर कर डंडी से ढोल के किस छोर पर आघात करना है... मौखिक परंपरा में निहित सारी यह शास्त्रीय बातें, यह कारीगर-कलाकार बखूबी जानता है। ऐसे मंझे हुए कारीगर-कलाकार ही ढोल वादन की परंपरा में जान फूँकते हैं जिससे राठवा भीलों की युवा पीढियां भी ढोल को सीने से लगा लेती हैं।

ढोल पर डोंडी नो ताल वाज्यो...

ढोल पर डोंडी नो ताल वाज्यो,
खरे खरे भाया ताल वाज्यो,
डोहा ने डोही नो ताल वाज्यो,
झेरी झेएरी हरखे ने ताल वाज्यो,
सोरा ने सोरीओनो ताल वाज्यो,
ढोल पर डोंडी नो ताल वाज्यो

भावार्थ: अरे भाई, देखो ढोली ढोल पर डंडी घुमा-घुमाकर ताल बजा रहा है। इस ढोल की आवाज के गूँजते ही सारे लोग खुशी से झूम उठे हैं। भले वे छोटे बच्चे हों, युवक-युवती हो या कोई बूढ़ा-बूढी, सारे ही मस्त होकर नाचने लगे हैं ढोल के ताल पर, जैसे यह सारे एक ही उम्र के न हों।

भीलों के अद्‌भुत ढोल वादन के चलते राठवा समाज अपनी उम्र, अपने दु:ख, यहाँ तक के अपने शरीर को भी भुलाकर एक उन्मुक्त अवस्था का अनुभव करता है। संगीत मनुष्य का बहुत बड़ा शक्ति-स्त्रोत है और राठवा आदिवासी समाज इस स्त्रोत से बड़ी उत्कटता से जुड़ा हुआ है परन्तु एक दारुण वास्तव यह भी है की आज के दौर में अधिकतर भील आदिवासियों को समाज के इस अद्‌भुत शक्ति-स्त्रोत से दूर हो जाना पड़ता है। काम की तलाश में अपने वतन से दूर दूसरे प्रान्त में जानेवाले, अथवा अपने वतन में रहकर ही दो वक्त का गुजारा हो सके इसलिए दो-दो नौकरियाँ करनेवाले भील की हालत कैसी हो जाती है, इसका वर्णन करनेवाला 'जेना मारुजी' यह गीत देखिये, बड़ी रोचक बात है कि यह गीत भी "आयवो पूनमियो मेळो" इस गीत की तरह सारंग राग के स्वरों जैसी ही धुन के इर्द गिर्द घूम रहा है:

सा सा रे म प नी प.. म रे म रे रे सा...

जेना मारुजी रे...

जेना मारुजी रे मारे आंजन मारो पीपरो रे, जेना मारुजी रे

जेना मारुजी रे तलवार नी धार पर चालवू रे, जेना मारुजी रे
जेना मारुजी रे मारे जोए डबल नोकरी रे, जेना मारुजी रे
जेना मारुजी रे सरकारी नोकरी ओंकरी रे, जेना मारुजी रे

भावार्थ: नायक कह रहा है, पीपल के घटादार वृक्ष समान इस बड़े से घर में मैं घरजवाँई बन कर आ तो गया हूँ। पर यहाँ रहना, सरकारी नौकरी करना और इस घर के पुरखों का व्यापार भी संभालना यह मेरे लिए दो-धारी तलवार पर चलने जैसा हो गया है, बड़ी मुश्किल से मैं एक एक दिन गुजार रहा हूँ।

"जेना मारुजी" यह गीत राठवा समाज में अपनी विशेषता रखता है क्योंकि राठवा समाज एक पुरुष प्रधान समाज है, इस कारण यहाँ पर किसी युवक का ब्याह के बाद अपने ससुराल में घरजवाँई बनकर रहना बड़ी अजीब समझी जाने वाली बात है। इसीलिये यहाँ नायक अपने घरजवाँई होने पर दु:ख जता रहा है।

समाज के अन्य वर्गों की तरह राठवा भील समाज में भी विवाह को एक अति पवित्र बंधन समझा जाता है। ब्याह के अवसर पर वर-वधू दोनों पक्ष की ओर से एक दूसरे की ठिठोली के, अलग-अलग ब्याह-विधि के गीत, तो बिदाई के समय करूण रस युक्त, भावना प्रधान गीत गाये जाते हैं:

बापो के मारे वाडीनां रिंगणा...

बापो के मारे वाडीनां रिंगणा वेचाय जा वेचाय जा
बापो के मारी लाडेकी दिसरी वेचाय जा वेचाय जा
बापो के मारी लाडेकी दिसरी पेणी जा
माळी के मारी लाडेकी दिसरी वेचाय जा वेचाय जा
माळी के मारी लाडेकी दिसरी पेणी जा

भावार्थ: जिसका ब्याह होने जा रहा उस कन्या का व्याकुल पिता गा रहा है: "जैसे मैंने अपनी बारी में बड़ी मशक्कत से बैंगन उगाये, और बाद में वो बैंगन हाट जाकर बेच आया, और आज, जिस बच्ची को

लाड प्यार से पाला पोसा, उसे मैं उसके ससुराल छोड़ने जा रहा हूँ..."

बेनी ने सासरी...

बेनी ने सासरी घणी दूर रे, वाटे दिवस उगसे
बेनी ने माता नो घणो लाड रे, वाटे दिवस उगसे
बेनी ने पिता नो घणो लाड रे, वाटे दिवस उगसे
बेनी ने सासरी घणी दूर रे, वाटे दिवस उगसे
बेनी ने वीरा नो घणो लाड रे, वाटे दिवस उगसे
बेनी ने भाभी नो घणो लाड रे, वाटे दिवस उगसे

भावार्थ: यह गीत जैसे माता-पिता का बिरह-गीत है, जहाँ वह अपनी फूल सी बच्ची की याद में ब्याकुल होकर गा रहे हैं: "ओ मेरी लाडली, तेरी ससुराल इतनी दूर है, इतनी दूर है, कि हम रात भर चलते रहें और दिन निकल आये, फिर भी तुम्हारे गाँव पहुँच नहीं पायेंगे। तुम अपने माता पिता, भैया-भाभी से कितना प्यार करती हो, पर अब बियाह के बाद यह सारा प्यार छोड़ दूर देस चली गयी हो।"

मरघां बोलसे...

मरघां बोलसे, हाहुळी जगाडसे
मारों बेनी नोनो, निंदरे घेरासे
मरघां बोलसे, पोनिलों भरावसे
रोजनी हाहुळी, पोनिलों भरावसे
मरघां बोलसे, वासनों घसावसे
रोजनी हाहुळी, वासनों घसावसे
मरघां बोलसे, चायो मुकावसे
रोजनी हाहुळी, चायो मुकावसे

भावार्थ: राठवा भीलों में आज भी कुछ परिवारों में बाल विवाह किए जाते हैं, सुबह सुबह जब सूरज की पहली किरणें झलक रही होती है, उस समय गाये जानेवाले इस गीत में एक बुज़ुर्ग ब्याहता एक नन्ही बालिका जिसका ब्याह होने जा रहा है, उसे समझा रही है - ब्याह

बाद जीवन में आनेवाले भारी बदलाव के बारे में: "अरी मोरी छोटी सी बहना, जब पौ फटेगी, तब तुम तो गहरी नींद में सो रही होगी, पर मुर्गे की बांग सुनते ही तुम्हारी सास तुम्हें जगाएगी, तुमसे पानी भरवाएगी, गोबर उठवाएगी, बर्तन मंजवाएगी, चाय रखवाएगी, खाना पकवाएगी। मेरी छोटी सी बहना, अब लाड प्यार के दिन पूरे हुए। एक कष्ट भरे जीवन के लिए तैयार हो जाओ।"

मुझे स्पष्ट याद है, इस गीत को सुनकर मैं उसके सुर लिख कर उसे गाने का प्रयास कर रही थी, और जैसे अन्य सभी गीत गाती हूँ, उसी तरह आलापकर मैं यह गीत भी गा रही थी.. मुझे सुनकर नारण भाई बोल उठे, "अरे.. 'मरघां बोलसे' यह गीत तो बिदाई का है जिसे गाते समय हमारी राठवा स्त्रियाँ फूट-फूटकर रो पड़ती हैं...।" नारण भाई की बात सुनकर मेरी भी आँखें भर आयी, महसूस हुआ कि हर गीत अपने साथ एक कहानी लेकर चलता है, यदि उस गीत को समझना है तो उसके साथ जो कहानी चल रही है उसे भी जानना होगा, उस संवेदन का अनुभव करना होगा।

हर आदिवासी गीत की कहानी और परिवेश समझने के उपरांत भी उस गीत को गाते समय मेरे मन में एक हिचकिचाहट सी रहती थी। मैंने एक दिन नारण भाई से पूछा, कि क्या मैं अपने गायन से इन आदिवासी गीतों पर कोई 'मधुरता' तो आरोपित नहीं कर रही? जाने अनजाने गर ऐसा हो रहा है, तो क्या वो उचित है? नारण भाई ने कहा, "प्राची बेन, आज लगी बधा राठवा बैरों आ गीतों गाय खरा, पण कोई हांभरे तो ने?" (आज तक हमारे समाज में यह गीत गाये जा रहे थे, पर कोई उन्हें ध्यान से न सुनता था। जब से आपकी आवाज़ में हमारे गीतों की सीडी बनी है, हमारा राठवा समाज आश्चर्यचकित हो उठा है अपने ही गीतों की सुंदरता को लेकर। अब वे यह सारे गीत बड़े ध्यान से सुनते हैं, गाते भी हैं और खुद की इस अनमोल धरोहर पर उनको गर्व भी महसूस होता है। मैं तो चाहता हूँ कि आप हमेशा हमारे गीत गाती रहें।) नारण की यह बात सुन कर मैं थोड़ी आश्वस्त ज़रूर हुई, पर राठवा समाज की मेरी सहेली नीता तो नारण से भी आगे निकल गयी। उसने कहा, "रांची बेन, मैं चाहती हूँ कि आप हमेशा के लिए

हमारी बनकर, हमारे पास ही रहें। हमें लगता है कि आपका हमारा कुछ पुराना नाता है।"

'मैं' का अस्तित्व वास्तव में 'अन्य' के अस्तित्व से बड़ी जटिलता से जुड़ा हुआ है, देखा जाय तो 'मैं' को 'अन्य' के परिप्रेक्ष्य में ही ठीक तरह से समझा जा सकता है। जैसे मैं अपने आप को नीता और नारण के नज़रिए से देखने परखने समझने की कोशिश कर रही थी, उनकी इन प्यारभरी बातों ने और एक बार मुझे भाषा एवं दर्शनशास्त्री बाखतिन की कही ये बातें याद दिला दीं:

"समझने के लिए, यह उस व्यक्ति के लिए बेहद महत्वपूर्ण है जो अपनी रचनात्मक समझ की वस्तु के बाहर स्थित होना समझता है - समय में, अवकाश में, संस्कृति में। क्योंकि कोई वास्तव में अपने स्वयं के बाहरी हिस्से को देख भी नहीं सकता है और इसे समग्र रूप से समझ भी नहीं सकता है, ना ही कोई दर्पण या तस्वीरें मदद कर सकती हैं; हमारे वास्तविक बाहरी भाग को केवल अन्य लोग ही देख और समझ सकते हैं, क्योंकि वे अवकाश में हमारे बाहर स्थित हैं, और क्योंकि वे अन्य हैं।" - मिखाइल बाखतिन् *न्यू यॉर्क रिव्यू ऑफ बुक्स*, जून १०, १९९३[११]

टेबल ऊपर लिंबू...

टेबल ऊपर लिंबू, लिंबानो रंग लीलो
सोखिन बेनी टिकिट पर मारू नाम से
पिता नोकरी जासे, टिफिन जोई रडसे
सोखिन बेनी टिकिट पर मारू से
माता रसोई रांधसे, रसोडू जोई रडसे
सोखिन बेनी टिकिट पर मारू से
बेनी पोणी भरसे, पोणीला देखी रडसे
सोखिन बेनी टिकिट पर मारू से
वीरां कोलेज जासे, चोपड़ा देखी रडसे
सोखिन बेनी टिकिट पर मारू से

भावार्थः विवाह के बाद कन्या अपना मायका भले ही छोड़ दे, पर अपनी यादें, अपने अस्तित्व की निशानियाँ मायके में जरूर छोडती है। इस विवाह गीत में कन्या अपनी सहेली से कह रही है कि तुम्हें मेरा मजाक उड़ाने का बहुत शौक है न? तो सुनो, यह टेबल है, उस पर यह हरा हरा निमु है, उसी तरह यह घर आज भी मेरी यादों से हरा भरा है, यहाँ की हर चीज पर मेरे नाम की मुहर - स्टाम्प टिकट लगी हुई है।

जब भी पिताजी नौकरी जायेंगे तो टिफिन देख कर रोएंगे
जब भी माँ खाना पकाएगी तो रसोईघर देख रोएगी
जब भी बहन पानी भरने जायेगी तो मटका देख कर रोएगी
जब भी भाई कोलेज जाएगा तो किताब देख कर रोएगा
इन सारी चीजों पर मेरी यादों की मुहर लगी हुई है
मैं जा कर भी उनकी यादों में बसी रहूँगी।

टेबल, स्टाम्प, कॉलेज, टिफिन जैसे अनेक अंग्रेजी शब्द, और नए-नए विषय अपने गीतों में गढ़ते हुए राठवाओं का संगीत पुनः पुनः इस ग़लत धारणा का खंडन करता रहता है कि आदिवासियों के गीत का 'आधुनिकता' से कोई सम्बन्ध नही है। और इन गीतों को ध्यान से सुना जाय तो ज्ञात होता है कि परंपरा और आधुनिकता कोई परस्पर विरोधी संकल्पनाएँ नहीं हैं। आदिवासी समाजों में इनका सम्मिश्रण पाया जाता है।

"*बेनी ने सासरी... मरघां बोलसे.. टेबल ऊपर लिम्बू...*" ऊपर दिए गए इन तीनों विवाह गीत के शब्दों के साथ-साथ उनके स्वरों को देखें तो मालूम होता है कि इन गीतों की स्वरावलियाँ हिन्दोस्तानी संगीत की या पंचस्वरीय धून 'धानी' स्केल से मिलती जुलती हैं। 'धानी' के पाँच स्वर इस प्रकार के हैं.. सा ग म प नी सां.... जिस में गंधार और निषाद कोमल हैं, इसके अतिरिक्त सारे स्वर शुद्ध हैं. यदि 'धानी' से मिलते जुलते गीतों को पाश्चात्य स्वर-संगतियों में लिखने का यत्न किया जाय तो वो कॉर्ड प्रोग्रेशन कुछ इस प्रकार तैयार होगा।

(Chord Progression for the tunes similar to the structures like Raag Dhaani of Hindustani Music)

1	2	3	4
C Major	A# Major	F Major	G Major
D Major	F Major	G Major	C Major
E Major	G Major	A Major	D Major
F Major	D# Major	A# Major	C Major
G Major	C Major	F Major	D# Major
A Major	G Major	D Major	F Major
B Major	A Major	E Major	G Major

लिमडे वलियारी वावी...

लिमडे वलियारी वावी, डाळे अत्तर जाय से
कोराज ना सुप्पर वीरा निसाळ भणवा जाय से
तेजगढ़ ना डफ्फोळ सोरां डोबो चारवा जाय से
कोराज नई सुप्पर बेनो कॉलेज फरवा जाय से
तेजगढ़ नी डफ्फोळ सोरीयों सोणों विणवा जाय से

भावार्थ: जैसे हमने देखा विवाह के अवसर पर वरपक्ष एवं वधूपक्ष इन दोनों की तुलना करने वाले कटाक्ष और व्यंग से भरे गीत रचे जाते हैं। लिमडे वलियारी ऐसा ही एक गीत है, इस लग्न-गीत में दो विरुद्ध स्वभाव के वृक्षों का वर्णन किया गया है। नीम का वृक्ष जो कड़वा है, उसी के पास यानि सुगंधी सौंफ का पेड़ भी है। नीम के वृक्ष की चारों ओर वलियारी की सुगंध फैल रही है। देखो तो, कोराज गाँव के 'सुप्पर' लड़के पाठशाला में पढ़ते हैं, तो तेजगढ़ के डफर लड़के गाय-भैस चराते रहते हैं। कोराज गाँव की 'सुप्पर' लडकियां कॉलेज घूमने जाती हैं, तो तेजगढ़ की डफर लडकियां गोबर उठाती रहती हैं।

ध्यान देने योग्य बात है कि कोराज और तेजगढ़ यह एक ही पंचायत के दो छोटे कसबे हैं। इस गीत में 'सुप्पर' जैसे अंग्रेजी शब्द का बड़ा ही मज़ेदार इस्तेमाल हुआ है।

रोड़े रोड़े फरो...

रोड़े रोड़े फरो वीराँ
एकला ना फरो वीराँ
रोड़े मारुती आवे...
रोड़े रोड़े फरो बेनी
एकला ना फरो बेनी
रोड़े भायबंद आवे...

भावार्थ: इस विवाह गीत में स्त्रियाँ दूल्हे राजा से कह रही है कि अरे ओ वीरा, मेरे भाई, तुम रोड पर अकेले मत घूमना, विवाह की बेला समीप है। और रोड पर तो मारुती कार आती है (वो कहीं तुम्हें उड़ा न दे!) साथ ही कन्या को भी संबोधित करती हैं, अरी मेरी बहन, विवाह की बेला समीप है, तुम रोड पर अकेली मत जाना... वहाँ गुंडे मवाली आते हैं (वो कहीं तुम्हें उठा ना ले!)

गत बारह सालों में मैंने यह गीत अनेकानेक बार सुना और गाया भी है। हर बार एक बेचैनी पैदा करता है यह गीत। 'आदिवासी' विश्व का 'मुख्यधारा' के साथ जो सम्बन्ध रहा है, वह बड़ा ही जटिल है। मैंने देखा है कि राठवा भील समाज अनेक नए गीत रच रहा है और यह नए गीत साउंड स्टूडियो में की-बोर्ड/सिंथेसायजर जैसे वाद्यों के साथ रेकोर्ड किए जाते हैं। जैसे कि राठवा विश्व में धूम मचाने वाला 'रांग नंबर' यह टीमली नृत्य-गीत लीजिये। इसे जसवंत राठवा नामक युवा गायक ने गाया है। यु ट्यूब पर जसवंत राठवा ने गाये हुए कई गीत प्राप्त होते हैं, और हम देख सकते हैं कि इन गीतों पर हज़ारों की तादात में हिट्स पाए जाते हैं।[१२]

नयी राठवा टीमली - *'रोंग नंबर'*...

रोंगनंबर भाई रोंगनंबर गमे त्यां लागी जाय रोंगनंबर
गाळो खवडावे रोज रोंगनंबर, गमे त्यां लागी जाय रोंगनंबर
मार खवडावे रोज रोंगनंबर, गमे त्यां लागी जाय रोंगनंबर

जाण्या अजाण्या मां प्रेम थई जाय, गमे त्यां लागी जाय रोंगनंबर
भणतर बगाडे रोंगनंबर, जीवतर बगाडे रोंगनंबर
आय लव यु माय रोंगनंबर ने प्रेम माय रोंगनंबर
छोकरा छोकरियो भान भूली जाय, गमे त्यां लागी जाय रोंगनंबर
चिकनी सोरी ने नोकर लई जाय, गमे त्यां लागी जाय रोंगनंबर
देस विदेस मां वातो वहेती थाय, गमे त्यां लागी जाय रोंगनंबर
घरों मां रोज रोज झगड़ा थाय, गमे त्यां लागी जाय रोंगनंबर
काकी भत्रिजो ने ससरो ने वहू, गमे त्यां लागी जाय रोंगनंबर
कोर्ट कचेरी नां धक्का पड़े, गमे त्यां लागी जाय रोंगनंबर
हमजी विचारी ने फोन करजे, गमे त्यां लागी जाय रोंगनंबर

भावार्थ:

भाई... मोबाइल के इस जमाने में सही नंबर के बदले गलत नंबर (रांग नंबर)
ही ज्यादा लग जाते हैं, कहीं पर भी, कैसे भी लग जाते हैं.. रांग नंबर
रांग नंबर लगने से गाली भी खानी पड़ती है और मार भी
इस रांग नंबर के चलते जाने अनजाने में लोग प्यार कर बैठते है
आपकी पढ़ाई, आप का जीना सब कुछ रांग नंबर बरबाद करके रख देता है
युवक युवतियां अपना होश खो देते हैं इस रांग नंबर के चलते,
एक सुंदर युवती अपने नौकर के साथ भाग जाती है,
किसी से भी 'आई लव यू' बोलना हो...प्यार जताना हो,
रांग नंबर तो लग ही जाता है
देस बिदेस में आपकी बातें फैलने लगती है इसी रांग नंबर के कारण
घरों में रोज-रोज झगड़े शुरू हो जाते हैं
चाची-भतीजा, ससुर-बहु किसी के बीच भी लग जाता है रांग नंबर
यहाँ तक, की यही रांग नंबर आपको कोर्ट कचहरी के धक्के खिलाता है
इसीलिये कहता हूँ.. सोच समझ कर घुमाना
नहीं तो कभी ना कभी, तुम भी बन जाओगे एक रांग नंबर!

राठवा भीलों का 'टीमली' यह नृत्य-गीत अब एक नए परिवेश में, एक अलग ही अंदाज़ में नजर आता है। जैसे गीत की शुरुआत में हमने देखा कि यहाँ 'रांग नंबर' यह एक महत्वपूर्ण रूपक बनकर सामने आता है। अन्य आदिवासी समाजों की तरह राठवा समाज भी बदलाव की तीव्र लहर का सामना कर रहा है, और इस लहर के चलते समाज का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश एक संक्रमण से गुज़र रहा है इस संक्रमण को 'रांग नंबर' बड़े ही सटीक तरीके से प्रतिबिंबित करता है।

राठवा भील समाज के टीमली नृत्य और विवाहगीत हों, जो आजकल डीजे की संगत में भी गाये-बजाये जाते हैं, या फिर होली के समय गेर के मेले में लाऊड स्पीकर पर खेले जानेवाले होली-विशेष नृत्यगीत हो या दिवासो-दिवाळी-दशहरा पर प्रस्तुत होने वाले नृत्य-गीत हो या फिर विभिन्न सार्वजनिक उत्सवों में राठवा कलाकारों द्वारा किए जाने वाले संगीत प्रदर्शन हों, इन सभी द्वारा राठवा समाज अपनी सांस्कृतिक-सामाजिक-राजकीय पहचान को विस्तारते हुए एक अधिक विशाल विश्व से जा मिलता है।

'आजकल एक लोक-संगीतकार टेलीविजन नेटवर्क पर लाखों लोगों के लिए एक अपनी उसी शैली और तरीके से प्रदर्शन कर सकता है, बिलकुल वैसे जैसे उसके अपने छोटे समूह के बीच में अपने गायन और वादन का प्रदर्शन करता है, और इस प्रकार वो अपनी कला को अपने सामाजिक दायरे से बहुत आगे बढ़ाता है। संक्षेप में, लोक-साहित्य की सामग्री एक ओर तो लचीली, जोड़-तोड़ से भरी हैं और पार-सांस्कृतिक भी हैं तो दूसरी ओर, लोकगीत अपने आप में एक सेंद्रिय-जैविक घटना है! - डान बेन-अमोस *'टूवर्ड अ डेफिनिशन ऑफ फोकलोर इन कांटेक्स्ट'*[१३]

सन्दर्भः

*) फ़िराक़ गोरखपुरी शे'र
https://www.rekhta.org/couplets/sar-zamiin-e-hind-par-aqvaam-e-aalam-ke-firaaq-firaq-gorakhpuri-couplets?lang=hi

1) Chakravarty, Dipesh. "Minority Histories, Subaltern Pasts." Perspectives 35 8 (1997): 39.

२) राठवा भील मित्रों से बातचीत, आदिवासी अकादमी, तेजगढ़, गुजरात, जून २०११

३) भील - Aboriginal https://www.encyclopedia.com/humanities/encyclopedias-almanacs-transcripts-and-maps/bhil

४) ज्योर्ज ग्रियर्सन, 'linguistic survey of India', 9th Volume, 1907

५) राठवा समाज के नारण और विकेश राठवा लिखते हैं की उनके पुरखे अलीराजपुर रतुमाळ पर्बत से उतर कर रेवाकांठा, छोटाउदेपुर विस्तार में आ बसे." छोटाउदेपुर जिलाना आदिवासी समाजो नो सांस्कृतिक अने मानवशास्त्रीय अभ्यास, (गुजराती) संकलन-संपादन कानजी पटेल, २०१६, ४.

६) राठवा नारण, विकेश, "राठवा समाजमां बाबो पिठोरो", गायणा - ८, १८०

७) गाथा रीसर्च आर्काइव - http://gaatha.com/pithora-paintings/

८) आर्थर कॉनन डॉयल का उद्धरण: It is a capital mistake to theorize before one has data. Insensibly one begins to twist facts to suit theories, instead of theories to suit facts. – Arthur Conan Doyle, Sherlock Holmes
https://www.nagrika.org/nagrikaspeak/cantonmenttowns#:~:text='%E2%80%9CIt%20is%20a%20capital%20mistake,in%20A%20Scandal%20in%20Bohemia.

९) https://forestrightsact.com/

१०) https://saptswargyan.in/raag-ka-arth-mahatva/

११) मिखाइल बाखतिन उद्धरण: "In order to understand, it is immensely important for the person who understands to be located outside the object of his or her creative 29 understanding—in time, in space, in culture. For one cannot even really see one's own exterior and comprehend it as a whole, and no mirrors or photographs can help; our real exterior can be seen and understood only by other people, because they are located outside us in space, and because they are others." Mikhai Bakhtin ~New York Review of Books, June 10, 1993

१२) https://www.youtube.com/watch?v=3M4doWuf1AQ

१३) डान बेन-अमोस का उद्धरण: "A folk musician nowadays can perform for millions of people on a television network, in a style and manner that approximate his own singing and playing in the midst of his own small group, thus extending his art far beyond his social circle. In sum, the materials of folklore are mobile, manipulative, and trans-cultural. On the other hand, folklore is very much an

organic phenomenon in the sense!" - Dan Ben-Amos 'Toward a Definition of Folklore in Context' - Ben-Amos, Dan. Folklore concepts: histories and critiques. Indiana University Press, 2020.

अध्याय तीन

वादविवादों से घिरा आदिवासी संगीतः कुछ प्रश्नोत्तर

बारह वर्षों की इस आदिवासी संगीत यात्रा के दौरान मैंने पाया, समाज के साधारण लोग हो या संगीत-विश्व के कलाकार एवं शास्त्री, इनमें से अधिकतर लोगों के लिए जैसे आदिवासी संगीत कोई आधी-अधूरी, एकसूरी, बार-बार खुद को दोहराने वाली कर्कश सी ध्वनियाँ हैं बस, इससे अधिक कुछ नहीं। तो दूसरी ओर अनेक आदिवासी कार्यकर्ता भी इसे संगीत-कला से ज़्यादा एक साधन समझते हैं। साम्प्रत समय में आदिवासी संघर्ष को तीव्रता से समाज के सामने रखने के लिए एवं आदिवासी आन्दोलन को अधिक बलवान बनाने के लिए अक्सर आदिवासी संगीत का उपयोग करते हैं। और आज मैं जिस जगह हूँ, वह शिक्षाविदों का विश्व भी इसे संगीत एवं कला कहने पर सवाल खड़ा करता है। थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय कि यह सारी बातें अपनी जगह सही हैं, तो इनके बारे में सोच-सोचकर मैं बहुत ज़्यादा बेचैन हो उठती हूँ। संगीत की विद्यार्थी होने के नाते मेरे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि आदिवासी संगीत के बारे में जो भी सही गलत मान्यताएं हैं, इस संगीत को जिन जिन प्रश्नों ने, वाद विवादों ने घेर रक्खा है, उन सब को संबोधित करूँ।

संगीत को प्रायः एक कला अथवा शास्त्र के रूप में ही देखा गया है, किन्तु कुछ समय के लिए यदि हम संगीत को कला एवं शास्त्र से परे, ध्वनि-विश्व से जुडी एक स्वतंत्र घटना के रूप में देखें तो कई नयी बातें प्रकट होती हैं. सदियों से संगीत एक परिघटना (फिनोमिनन[१]) के तौर पर भी अस्तित्वमान रहा है। एक दृक्श्राव्य घटना - और इस घटनानुभव से केवल मनुष्य विश्व नहीं, समस्त प्राणी जगत भी जुड़ा

हुआ है। इस विशाल अर्थ में, फिनोमिनन. जो बाद में जा कर कला एवं शास्त्र के निकषों पर भी खरा उतरता है, जिसकी चर्चा हम 'आदिवासी संगीत: कला एवं शास्त्र विचार' - इस अध्याय में पहले ही कर चुके हैं। किन्तु इसी संदर्भ में आगे जा कर एक और महत्वपूर्ण प्रश्न सर उठाता है, कि आदिवासी संगीत को कला एवं शास्त्र के रूप में स्वीकारने के उपरांत, अब आदिवासी संगीतकला के सिद्धांतों को, उसके शास्त्र को किस प्रकार लिखा जाय?

जब भी किसी संगीत को लिखने का यत्न होता है तो एक लिपि की आवश्यकता होती है। हर संस्कृति के पास अपनी ख़ास स्वरलिपि पद्धति होती है। पश्चिमी जगत के जाने-माने संस्कृति-संगीतज्ञ (एथ्नोम्युजिकोलौजिस्ट) टिमथी राईस, ब्रूनो नेटल और अन्य कई, ये सारे अपनी आदिवासी धुनें पाश्चात्य शास्त्रीय संगीत की स्वरलिपि पद्धति 'स्टाफ नोटेशन'[२] में ही लिखते हैं किन्तु भारतीय सन्दर्भ में जब आदिवासी संगीत को "सा रे ग म प" जैसे सुरों में लिखने का प्रयत्न किया जाता है तो इसके स्वर-लेखक को समाज के विविध तबके कहते हैं कि वे जैसे "अपनी सुविधा के लिए आदिवासी संगीत का साधारणीकरण (स्टेंडर्डाइजेशन) कर रहे हों, साथ ही साथ शास्त्रीय संगीत के सुरों में उसे लिख कर इसका संस्कृतकरण कर रहे हों" इस प्रकार के आक्षेपों का एक स्वर-लेखक को सामना करना पड़ता है। क्या होती है यह स्वरलेखन पद्धति (नोटेशन पद्धति)?

किसी भी प्रकार का संगीत लिखा जा सके इस हेतु वैज्ञानिक रूप से तैयार की गयी, कुछ विशिष्ट चिह्नों से बनी भाषा को स्वरलिपि कहते हैं। भारतीय संगीत के अध्वर्यु पंडित वि. ना. भातखंडे इन्होंने तैयार की हुई हिन्दोस्तानी स्वरलिपि ऐसी ही एक वैज्ञानिक पद्धति है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय संगीतशास्त्र को लिखने के यत्न के दौरान पंडित भातखंडे स्वयम कई प्रकार के 'एप्रोप्रिएशन' का सामना कर रहे थे। लेखिका जानकी बखले अपनी पुस्तक 'टू मेन एंड नेशन' में बताती हैं कि पंडित भातखंडे किस प्रकार 'राष्ट्रवाद' एवं 'राष्ट्रीय संगीत' जैसी संकल्पनाओं को ध्यान में रखते हुए संगीतशास्त्र की पुनर्रचना कर रहे थे। साथ ही कैसे वे अन्य वाद-विवादों से जूझ रहे थे, इसका निरूपण

जानकी करती हैं, उदाहरण के लिए विलियम जोंस ने कहा था कि "भारतीय संगीत लिखित स्वरुप में उपलब्ध नहीं है अपितु इसका कोई शास्त्र नहीं है।" इस गलत धारणा का खंडन हो सके, इस हेतु पंडित विष्णु नारायण भातखंडे ने पुराने भारतीय संगीत शास्त्रकारों की ग्रन्थ सम्पदा को सामने रखा। इसके साथ ही उन्होंने एक बार फिर हिंदी एवं संस्कृत भाषा में कई नए संगीत ग्रंथों की रचना की। किन्तु भातखंडे जी द्वारा निर्मित स्वरलिपि में उधृत "सा रे ग म प ध नी" इन सुरों का सम्बन्ध केवल शास्त्रीय संगीत से जोड़े जाने की वजह से इन्हीं सुरों में आदिवासी संगीत का लिखा जाना एक गंभीर समस्या बन गया। इस समस्या का भेदन आवश्यक है।

'सा रे ग म प ध नी' इन सात सुरों की, इन स्वरनामों की उत्पत्ति कैसे हुई?

सर्व प्रथम इन स्वरों का उल्लेख चौथी शताब्दी के 'नारदीय शिक्षा' नामक ग्रन्थ में मिलता है किन्तु रसप्रद बात यह है कि नारदीय शिक्षा का यह लेखक, नारद कौन है, कौन सा नारद है? इसकी पहचान आज तक विद्वान् नहीं कर पाए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि लेखन सुविधा के लिए 'नारद' की पदवी का उपयोजन किया गया। जैसे यह बात सर्वज्ञात है कि 'भरत नाट्यशास्त्र' के भरत भी केवल एक व्यक्ति न होते हुए, एक पदवी है! संगीत शोधकों की एक परिकल्पना यह भी है, कि कई समूहों ने मिलकर 'नारदीय शिक्षा' इस ग्रन्थ को संपादित किया, यह बात तो स्पष्ट है कि स्वर नामों का जन्म कोई एक रात में घटित हुई घटना नहीं किन्तु अनेक पीढ़ियों के, अनेक समूहों के योगदान से इनका जन्म हुआ। चौथी शताब्दी से स्वर नामों का प्रयोग शुरू हुआ और छट्ठी शताब्दी में 'ब्रिहद्देशीय' इस अपने ग्रन्थ में ऋषि मातंग ने, जो स्वयं मातंग समूह के ग्रंथकार-संगीतकार थे, सर्व प्रथम 'राग' इस संज्ञा को प्रस्तुत किया। परन्तु साथ ही उन्होंने देशी एवं मार्गी, अर्थात लोक एवं शास्त्रीय इन दोनों प्रकार कि संगीत विधाओं में गहरा सम्बन्ध होता है इस तथ्य को बार-बार विषद किया है। इस तथ्य से हम यह जान सकते हैं कि पुराने समय में आदिवासी/लोक/शास्त्रीय/लोकप्रिय इस तरह

के विभाजन उतने प्रबल नहीं थे जितने कि बाद में औपनिवेशक समय में होते गए। तो जिस तरह से भारत का फिल्मी/लोकप्रिय संगीत स्वयम को लिखने के लिए पाश्चात्य स्वरलिपि का सहज भाव से प्रयोग करता है, उसी प्रकार जब भी लिख कर दस्तावेजित करने की आवश्यकता हो, आदिवासी संगीत को भी पाश्चात्य एवं भारतीय स्वरलिपि में लिखा जा सकता है।

हमने देखा संगीत की अलग-अलग विधाएं एक दूसरे को प्रतिसाद देते हुए संगीत विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाती हैं। इस प्रकार का आदान प्रदान केवल स्वाभाविक ही नहीं, सर्जन प्रक्रिया का अहम हिस्सा भी है। विश्व भर में हो रहा संगीत-संशोधन इस बात की ओर इशारा करता है कि समाज एवं संस्कृति के परे मनुष्यों का संगीत एकदूसरे से जुड़ा हुआ है। इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि हम विभिन्न संगीत विधाओं का साधारणीकरण कर रहे हैं, अथवा इस वास्तविकता को नकार रहे हैं कि प्रत्येक संगीत संस्कृति के अपने कोई विशेष नहीं। हम जानते हैं कि हर संस्कृति की अपनी अनूठी सांगीतिक अभिव्यक्ति होती है किन्तु इन विशेषताओं के बावजूद ऐसी कौन सी ध्वनियाँ हैं, इन ध्वनियों के कौन से ऐसे प्रतिरूप हैं जो विश्व संगीत को एक धागे में पिरोते हैं?

विश्व-संगीत यह कोई कवि की रूमानी कल्पना नहीं। तथापि मनोध्वनिशास्त्र (साइकोएकौस्टिक्स) एवं जीव-संगीतशास्त्र (बायोम्युजिकोलोजी) नामक विद्याशाखाएं इस विषय का गहराई से अभ्यास करती हैं।[२] देखा गया है कि विश्वभर के मनुष्य 'पेंटाटॉनिक स्केल' अर्थात पंच-स्वरीय (पाँच स्वरों की) रचनाओं से त्वरित जुड़ पाते हैं। विश्व की सारी संस्कृतियाँ अपने-अपने परिवेश एवं वातावरण के प्रभाव के चलते विशिष्ट ढंग से पंच-स्वरीय सप्तक का निर्माण करती हैं। पंच-स्वरीय सप्तक - इस स्केल को मानवता का सप्तक या 'पेंटाटॉनिक: अ स्केल ऑफ ह्युमैनिटी'[३] भी कहा गया है। कैसे बनता है समग्र मनुष्यता का यह सप्तक? सारी संस्कृतियों में पंच का पाया जाना एक विशेष बात को सामने रखता है कि पाँच सुरों में जो अन्त:सम्बन्ध है, वह 'रेशियो' अर्थात सममिती पर आधारित है, सप्तक का आधार

स्वर और पाँचवां स्वर, आधार स्वर और तीसरा स्वर, और तीसरा और पाँचवां। उसी प्रकार पाँचवे और आठवें स्वर के बीच जो सममिती है, उसे मनुष्य का श्रवण तुरंत पकड़ लेता है और उससे जुड़ भी जाता है। जैसे सा-प, सा-ग, ग-प, और प-सां जैसी जोड़ियाँ इंसान के कानों को बहुत ही सुखद लगती है।

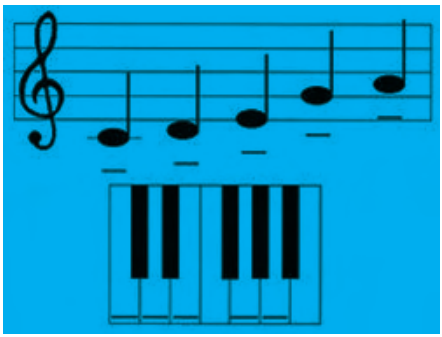

(C Major Pentatonic Scale)[४]

पश्चिमी संगीत-विश्व के ख्यातनाम संगीतज्ञ एवं कलाकार बॉबी मेक्फेरिन कहते हैं कि पैंटा-टॉनिक स्केल भिन्न भिन्न मनुष्यों को संगीत के एक धागे में पिरोने वाली स्वयंपूर्ण कड़ी है![५] बॉबी मैक्फेरिन जैसे संगीतकारों की प्रेरणा से जब हिन्दुस्तानी स्वरलिपि के साथ-साथ मैं आदिवासी संगीत को पाश्चात्य कॉर्ड्स में भी देखने का यत्न करती हूँ तो आनंदाश्चर्य होता है और मैं अनुभव करती हूँ कि यह आदिवासी गीत पाश्चात्य स्वर संगतियों, कॉर्ड्स में इस प्रकार समाहित हो जाते हैं जैसे यह कॉर्ड्स उन्हीं के लिए बनाए गए हों! संगीत के सार्वजनीन होने का इससे बड़ा प्रमाण मैंने आज से पहले नहीं पाया।

विविध संगीत संस्कृतियाँ एक दूसरे से किस प्रकार जुडी हुई होती हैं, इस मुद्दे को प्रस्थापित करनेवाला एक और सिद्धांत है, 'कल्चरल इक्विटी' अर्थात सांस्कृतिक समानता - ऐलन लोमैक्स इस अमरीकी संगीतज्ञ एवं संस्कृतिशास्त्री ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया। वे कहते हैं:

"*भिन्न भिन्न समूहों के लोकगीत हमें साफ तौर पर दिखा सकते*

हैं कि यह सपना सदियों पुराना है और सभी मानव जाति के लिए एक जैसा है। यह सपना पूछता है कि क्या हम सब इसे साझा कर सकते हैं? और क्या इसके द्वारा हम कमजोर लोगों के सांस्कृतिक अधिकारों को पहचान सकते हैं? यह वही सपना है जो विश्व-समाज में कमजोर लोगों के समायोजन को आसान और अधिक रचनात्मक बना सकता है। लोककथाओं की, लोकगीतों की सामग्री - मौखिक रूप से प्रसारित होनेवाला ज्ञान, कलाएँ और संगीत हमें दस हज़ार पुल प्रदान कर सकते हैं, जिसके पार सभी राष्ट्रों के लोग एक दूसरे से यह कहने के लिए आगे बढ़ सकते हैं, 'आप मेरे भाई हैं।'[६]

एलन लोमैक्स के 'कल्चरल इक्विटी' के सिद्धांत को अपनी पुस्तक 'पर्स्पेक्टिव्ह्ज ऑन म्युजिक' (२००८) में आगे बढाते हुए डॉ अशोक दा रानडे भी 'वन कल्चरल ज़ोन थ्योरी' अर्थात 'एकल सांस्कृतिक प्रक्षेत्र' की चर्चा छेड़ते हैं, जिसमें इरान से लेकर बर्मा तक के क्षेत्र को एक विशाल सांस्कृतिक पट की तरह देखा गया है। रानडे हमेशा कहते हैं, "संस्कृतियाँ अपने नक्शे अलग से बनाती हैं, जिनका राजकीय नक्शों से कोई सम्बन्ध हो यह ज़रूरी नहीं। वे आगे कहते हैं: "सभी संस्कृतियों में एक बहु-उत्पत्तीय सर्जना (मल्टी-जेनेसिस ऑफ आयडियाज) पायी जाती है।" जैसे कई बार एक दूसरे को न जानने पहचानने वाले, विश्व के अलग अलग स्थल पर रहने वाले लोग एक ही तरह की धुनें बनाते हैं। उदाहरण के लिए, एक ओर ज़न्द अवेस्ता की 'यास्ना' है तो दूसरी ओर वैदिक यज्ञपाठ की 'यद्न्या', और तीसरी ओर राठवा भीलों की उत्पत्ति गाथा है, 'गायणा'! यह तीनों संगीत संस्कृतियाँ एक दूसरे से पूरी तरह से स्वतंत्र हैं, फिर भी इन तीनों को एक के बाद एक क्रम से सुना जाय तो तीनों के संगीत में स्थित अन्त:सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और प्रतीत होता है, 'यास्ना, यद्न्या एवं गायणा' - यह तीनों उसी इकहरे सांस्कृतिक क्षेत्र का हिस्सा हैं। अवेस्ता का संगीत एवं वैदिक संगीत को तो हमने कब का संगीत का दर्जा दे दिया, पर क्या राठवा भील इस आदिवासी समाज की सृष्टि-निर्माण-गाथा को हम पूर्ण रूप में संगीत के तौर पर अपनाते हैं?

आदिवासी संगीत संस्कृतियाँ किस जटिलता से विश्व भर में निर्माण

हो रहे संगीत से जुडी हुई हैं, यह जानने के लिए 'सिंक्रेटिजम इन म्युजिक'[७] अर्थात संगीत के सन्दर्भ में समरूपकतावाद को समझना आवश्यक होगा। उदाहरण के लिए, भारतीय संगीत के प्रयोगशील संगीतज्ञ पंडित कुमार गन्धर्व ने माळवा प्रान्त की कबीर पंथी धुनों को निर्गुणी कबीर भजन के रूप में शास्त्रीय मंच पर प्रस्तुत किया तो सचिन देव बर्मन जैसे कई महान संगीतकारों ने आदिवासी धुनों की पुनर्रचना कर उन्हें फिल्मी गाने बना कर पेश किया। यह सर्वश्रुत बात है कि आसाम के महान संगीतकार भूपेन हजारिका ईशान्य भारत के आदिवासी एवं लोकसंगीत के गहरे अभ्यासक थे, उनके हर गीत में यह लगाव पाए जा सकते है। गुरुदेव रविन्द्रनाथ टैगोर का संगीत भी सिंक्रेटिजम का ही एक उम्दा उदाहरण है, जहाँ उन्होंने बंगाल की आदिवासी एवं लोकधुनें, हिन्दुस्तानी शात्रीय संगीत एवं पाश्चात्य संगीत के अपने ज्ञान को मिला कर एक अद्‌भुत संगीत विधा 'रवीन्द्र संगीत' की रचना की। ऐसी प्रगाढ़ता से विश्व संगीत से जुड़ने के उपरांत यह आदिवासी एवं आदिवासी संगीत की शोकांतिका है कि हर समय कोई न कोई विवाद उसे घेरे रहते हैं।

आदिवासी संगीत से जुड़ा और एक बड़ा विवाद है, द्वीती संघर्ष: कोन्फ्लिक्ट ऑफ बाइनरीज। मौखिक बनाम लिखित, देशी बनाम मार्गी, लोकधर्मी बनाम नाट्यधर्मी, शरीर बनाम चित्त, परंपरा बनाम आधुनिकता, प्रांतीय बनाम राष्ट्रीय, आदिवासी संगीत से जुडी यह अनगिनत द्वितीयाँ हैं। कला एवं संस्कृति के शायद ही कोई ऐसे विद्वान होंगे जो नाट्यशास्त्र की बहुचर्चित 'लोकधर्मी' बनाम 'नाट्यधर्मी' द्विती से अपरिचित हों! नाट्य की सारे छटाओं को अंतर्बाह्य टटोलने के बाद अपने अंतिम अध्याय में नाट्यशास्त्र रेखांकित करता है, "कलानिर्मिती की प्रक्रिया से जुड़े प्रश्न अंतहीन होंगे, जब शास्त्र के पास उपलब्ध सारे उत्तर समाप्त हो जायेंगे, तो शास्त्र को पुन: 'लोक' की ओर देखना होगा।"

क्या है यह 'लोक'? 'लोक' के अनेकार्थों में से एक अद्‌भुत अर्थ है, शरीर।

जब मनुष्य के मस्तिष्क से उपजे सारे सिद्धांत एक सीमा पर आकर रुक

से जाते हैं, तो मनुष्य को फिर एक बार स्वयं के शरीर की ओर मुड़ना होता है। जिस शरीर की समग्रता का एक छोटा सा हिस्सा है, मनुष्य का मस्तिष्क। मनुष्य शरीर का समाज में स्थित होना, शरीर के माध्यम से ही संस्कृति से जुड़ना एवं इसी शरीर द्वारा कला की अभिव्यक्ति करना। जैसे एक भील युवक होली के दौरान अपने शरीर से कई गुना विशाल ढोल अपने सीने पर उठा कर अद्‌भुत वादन करता है, तब ढोल के दोनों छोर पर थिरकते हुए उसके हाथ, उछलता हुआ शरीर, फूली हुई सांस, और स्वयं को भुला देनेवाली एक उन्मुक्त अवस्था, साथ ही साथ समूह में उसे देखने सुननेवाले हर मनुष्य का इस भील युवक के साथ एकाकार हो जाना – इस अनुभव से मैं विस्मित रह जाती हूँ, उलझन में पड़ जाती हूँ कि क्या मैं भी अपने शरीर से इसी उत्कटता से जुड़ी हुई हूँ। या मैंने अपनी अधिकतर शारीरिक संवेदनाओं को दबाना ही अपनी सभ्यता का इति कर्तव्य समझा है?

शरीर की एक व्याख्या है "शीर्यते इती शरीरं..." – आचार्य चरक[८]

अर्थात जिसका प्रतिक्षण क्षय हो रहा है, वह है शरीर। आदिवासी लोक इस सच्चाई को बखूबी जानता है। आदिवासी क्षेत्रों में लगभग रोज़ होनेवाली बाल मृत्यु, देशी दारु की गुलामी के चलते जीवन का अचानक समाप्त हो जाना या फिर नक्सल बनाम पुलिस की मुठभेड़ में इन दोनों की गोली का शिकार होना। शरीर का यूँ झट से मिट जाना – यह आम बात है आज भी आदिवासी लोक में, जो मेरा तथाकथित सभ्य शरीर, जिसने युगों तक जीवित रहने की लालसा पाली हुई है, समझ नहीं पाता शायद! शायद, यही वजह है, आदिवासी की हर शारीरिक अभिव्यक्ति को बुझने के लिए, उसका हिस्सा बनने के लिए मुझे अपूर्व यत्न करना पड़ता है क्योंकि मैंने ही अपनी मूर्ख सभ्यता, या कहो सभ्य मूर्खता के चलते स्वयं को आदिवासी से अलग थलग मान लिया है। परन्तु जैसे इस अनुभव का भेदन करते हैं, कई और सत्य सामने आने लगते हैं। जब मैं देखती हूँ कि शहर में रहनेवाली मेरी सोलह वर्षीय विद्यार्थिनी, गणेशोत्सव के दौरान अपने शरीर से दोगुने वज़न का ढोल अपने सीने पर ताने वादन की उसी उन्मुक्त अवस्था से गुजरती है जिससे कि मेरा

आदिवासी मित्र होली के दौरान गुज़र रहा था तो प्रतीत होता है जैसे यह दोनों एक दूसरे की दुनिया से अनजान, फिर भी एक दूसरे की दुनिया का अंतरिम हिस्सा बने हुए हैं। शरीर एवं कला – एक अभेद्य रिश्ता! कला सिद्धांतों की सारी मर्यादाओं को लाँघने के लिए किसी भी अभ्यासक का स्वयं के शरीर से उत्कटता से जुड़ना आवश्यक हो जाता है। इसे ही कहते हैं 'एम्बोडीमेंट ऑफ आर्ट' – 'कला का मूर्त रूप' जो आदिवासी कलाओं में स्पष्ट और सटीक रूप से पाया जाता है।

परन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि समाज में वर्ण व्यवस्था के चलते, जिन हाथों में हुनर था, कला थी, उन हाथों को लिखने की अनुमति नहीं दी गयी तो दूसरी ओर जो हाथ कलम चलाते थे, उनका अस्तित्व स्वयं के चित्त में ही व्याप्त हो कर रह गया... अपने शरीर से अलग थलग! शरीर से जुडी यही द्विती है, शरीर बनाम चित्त – (बॉडी वर्सेज माइंड)।

'कथा सरितसागर', यह ग्यारहवी शताब्दी में सोमदेव द्वारा संस्कृत भाषा में सम्पादित किया गया कथा संग्रह है। यह संग्रह पहले गुणाढ्य नामक विद्वान् द्वारा पैशाची नाम की भाषा में संकलित किया गया था। आज जिन समूहों को हम 'आदिवासी' कहते हैं, इन्ही समूहों द्वारा इन कथाओं की पैशाची एवं तत्सम भाषाओँ में रचना की गयी थी। इसी कथा संग्रह में मनुष्य शरीर एवं चित्त इस द्विती पर भाष्य करनेवाली एक अद्भुत कथा है योगानंद की।

योग अभ्यासक इन्द्रदत्त और उसके दो सहाध्यायी। आज गुरुकुल में उनका अंतिम दिवस था। योगविद्या की शिक्षा पूरी हुई। इन्द्रदत्त ने गुरुदेव से पूछा.. गुरुजी.. दक्षिणा क्या दें आपको? गुरुदेव बड़े विक्षिप्त स्वभाव के थे.. उन्होंने हँसकर कहा, रहने दो, नहीं दे पाओगे!

पर इन्द्रदत्त नहीं माना, हठ पकड़ कर बैठ गया। आखिर गुरुदेव ने कहा ठीक है, दश सहस्त्र, याने कि दस हज़ार सुवर्णमुद्राएँ ले आओ। इन्द्रदत्त हक्काबक्का रह गया.. दस हज़ार सुवर्णमुद्राएँ? पर अपनी ही कही बात में बंध गया था वो अब। तो अपने दोनों मित्रों के साथ निकल पड़ा। सोचने लगा.. कहाँ से लाऊँ इतना धन? फिर मित्रों से कहा, इस राज्य का राजा योगानंद ही है बस, जो हमें इतना धन दे सकता है।

चलो राजधानी की ओर।

परन्तु..

रास्ते में ही बुरी खबर आती है, कि राजा योगानंद अचानक चल बसे हैं।

राजा की मृत्यु हो गयी? यह क्या अघटित हुआ? इन्द्रदत्त फिर एक बार सोच में पड़ जाता है। कुछ देर बाद मित्रों से कहता है कि ली हुई शिक्षा को आज़माने का समय आ गया है। मैं अपनी योगविद्या के बल पर राजा के मृत शरीर में प्रवेश करूँगा। और राजा को कुछ समय के लिए जीवित करूँगा। फिर पहला मित्र भिक्षा के तौर पर दस हज़ार सुवर्ण मुद्राएँ माँगने आयेगा, राजा बना हुआ मैं तुरंत ही उसे वह दे दूँगा। तब तक मेरे निष्प्राण शरीर की रक्षा दूसरा मित्र करेगा। दोनों मित्र मान जाते हैं।

इन्द्रदत्त के योगबल से जैसे ही राजा जीवित हो उठता है, शोकाकुल प्रजा और परिवार पहले तो चौंक जाते हैं, पर जल्दी ही वातावरण आनंद से भर जाता है। इस आनंदमयी वातावरण में ही पहला मित्र भिक्षा मांगने पहुँच जाता है। गुरु दक्षिणा की सारी कहानी राज दरबार में सुनाता है। राजा के शरीर में बसा इन्द्रदत्त उसे तुरंत ही दस हज़ार सुवर्ण मुद्राएँ दे देता है।

परन्तु इस घटना क्रम से राजा के धूर्त प्रधान का मन आशंकित हो उठता है।

वह कठोर आदेश देता है: "आज इस मंगल अवसर पर कोई अमंगल बात शेष न रहे राज्य में। अगर कहीं भी बिन-जलाये शव दिखें तो तुरंत उन्हें जला दिया जाय।" आदेश पाते ही सैनिक तुरंत चारों ओर फैल जाते हैं। और मंदिर में निष्प्राण पड़ा इन्द्रदत्त का शरीर। दूसरे मित्र की एक न सुन, उस शरीर को जला दिया जाता है!

और इस प्रकार, इन्द्रदत्त हमेशा के लिए योगानंद के शरीर में बंधकर रह जाता है। उसमें राजा बनने की महत्वाकांक्षा तो दूर, चाह तक नहीं! न राज चलाने की कोई कुशलता है उसमें। अपने योगाभ्यास को आगे बढ़ा सके ऐसा शरीर भी अब उसके पास नहीं। व्याकुल

और बिखरा हुआ इन्द्रदत्त, एक मदांध हाथी की तरह हिंसक हो जाता है। एक विलासी जीवन में डूब कर जल्दी ही वह अपने अध:पतन को न्योता दे देता है।

लेखक भालचंद्र नेमाडे अपनी पुस्तक 'नेटिविज्म' (देशीवाद) में इस कथा का उल्लेख करते हुए कहते हैं, "मनुष्य नियति की यह विचित्रता है कि मनुष्य अपनी शारीर(स्थूल) पहचान को निभाते निभाते अपने चित्त(सूक्ष्म) को प्रिय ऐसे सारे विषय धीमे धीमे त्याग देता है। हम सभी, कभी न कभी, किसी न किसी प्रकार से एक अनचाही व्यवस्था में, अर्थात शरीर बनाम चित्त इस द्वीती में बंधकर रह जाते हैं।

अब यहाँ प्रश्न ये है कि आदिवासी संगीत की एक अभ्यासक होते हुए मुझे 'आदिवासी लोक' में छिपे गहन अर्थों का उत्खनन करना चाहिए या इन्हें निरर्थक परंपरा – 'नॉनसेंसिकल ट्रेडिशंस' मानकर अपना दामन छुड़ा लेना चाहिए? मुझे लगा, यह कहानी एक तरह से मेरा आवाहन कर रही थी: आओ, शरीर बनाम चित्त की इस द्विती का भेदन करो, क्योंकि योगानंद की शोकांतिका इसी द्विती का फल है।

इस कहानी को पढ़ते हुए और एक महत्वपूर्ण बात स्पष्ट हुई। समाज के बलवान वर्गों द्वारा संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में जो द्वंद्व निर्माण किया गया, वह भी कितना निराधार है। वास्तव में गुणाढ्य की पैशाची भाषा एवं सोमदेव की संस्कृत भाषा इनके बीच एक गहरा रिश्ता रहा है जो 'कथा सरित सागर' जैसे ग्रंथों द्वारा आपोआप उजागर हो जाता है।

जैसा कि हम जानते हैं, प्राकृत-संस्कृत का झगड़ा ब्रिटिशकाल में तीव्र हुआ। खेद की बात यह है कि आज भी हमारा मानस प्राच्यवादी[९] (ओरिएन्तलिज़्म) धारणाओं का गुलाम है जो समझता है कि संस्कृत भाषा का एकमेव प्रयोजन अन्य भाषाओँ को दबाना, अन्य भाषाओँ पर राज्य करना था। वास्तव में कई विभिन्न समूहों द्वारा बोली-समझी जानेवाली यह भाषा संस्कृत, एक संधिभाषा के रूप में प्रचलित थी जैसे कि आज हिंदी/ अंग्रेजी का हम संधिभाषा (लिंक लैंग्वेज) के रूप में उपयोग करते हैं।

संस्कृतकरण की प्रक्रिया भी इस तथाकथित वर्चस्व (हेजीमनी)

को ही दर्शाती है। समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास ने इस संज्ञा द्वारा यह दिखाया कि समाज के हाशिये पर धकेले गए अथवा दबाये गए समूह जब समाज के ऊँचे तबके के समझे जाने वाले लोगों का अथवा समूहों का अनुकरण करने के हेतु स्वयं की भाषा, रीति-रिवाज, खानपान इत्यादि का त्याग करते हैं, तब उनका संस्कृतकरण होता है। यह अवश्य एक दु:खद स्थिति है, परन्तु प्रश्न यह भी है कि आदिवासी समाजों को यह अधिकार है या नहीं कि वे अपने तरीके से अपनी जीवन शैली का चयन करें और उसमें बदलाव भी लायें? जैसे हमने देखा, आदिवासी शादियों में डीजे का आना एवं सिंथेसायजर पर संगीत बजाना आजकल एक आम बात बन गयी है। सिंथेसायजर सर्वप्रथम क्या करता है, तो सप्तक (भारतीय म्यूजिकल स्केल) के हर स्वर को समान अंतर पर बजाता है. अनेक वाद्य एक साथ बजाये जा सकें, इस कारण इस सुविधा का निर्माण हुआ है। सिंथेसायजर इक्विडिस्टंट स्केल - अर्थात सम-अन्तर सप्तक का निर्माण करता है, जिस वजह से सिंथेसायजर के प्रवेश से पहले आदिवासी गीत जिस प्रकार गाये जाते थे उसमें बदलाव पाया जाता है और स्वाभाविक रूप से संगीत का सौंदर्यशास्त्र भी बदलता हुआ नज़र आता है। तो क्या अब हम इसे आदिवासियों द्वारा किया गया शहरी समाज का अनुकरण कहें? क्या सचमुच यह घटना केवल अनुकरण अथवा संस्कृतकरण तक सीमित है? या इसका सम्बन्ध मनुष्यों की बदलती अभिव्यक्ति से, उनके सपनों से, आकाँक्षाओं से एवं एक अधिक बड़े विश्व का हिस्सा बनने से है? आखिर कब तक हम मनुष्य और उनके समाज एक निरंतर संकरीकरण (हाईब्रिडायजेशन) से गुजरते हैं इस बात को नकारते रहेंगे, और भिन्न-भिन्न आदिवासी समूहों की कलाकारी पर अपना 'सौन्दर्य मूल्य' थोपते रहेंगे?

(*जब आप अफ्रीकी संगीत की बात करते हैं तो आप केवल आदिवासी ढोल के बारे में सोचते हैं, लेकिन ऐसा बहुत सा अफ्रीकी संगीत है जो हिस्पैनिक की तरह सुनाइ देता है.* - डेमियन मार्ले[१०])

संकरीकरण एवं उपयुक्तिकरण का एक अत्यंत रोचक उदाहरण मैंने 'स्वर्णिम गुजरात २०१७' के सरकारी मेले में देखा। राठवा भील चित्रकार हरी भाई अपने पिठोरा शैली के चित्रों को प्रदर्शित करने और उन्हें बेचने

इस मेले में उपस्थित थे, मैं भी उनके साथ थी। उनके चित्रों को देख लोग भिन्न भिन्न प्रकार के प्रश्न कर रहे थे। एक मुलाकाती ने पूछा, इन चित्रों में आप कौन से रंगों का उपयोग करते हैं? मेरे राठवा भील मित्र हरी भाई ने बड़ी प्रमाणिकता से जवाब दिया, "जी कुछ समय पहले तो हम मिटटी, फूल वगरह से बने कुदरती रंगों का ही उपयोग करते थे पर अब तो बड़े पक्के कृत्रिम रंग भी मिल जाते हैं तो कभी कभी हम उनसे भी पिठोरा बना सकते हैं।" वहाँ पर मेले के एक आयोजक भी उपस्थित थे, उन्होंने तुरंत हस्तक्षेप किया और ग्राहक से बोले, "नहीं जी, हमारे मेले में तो आदिवासी कलाकारों ने केवल ऑर्गेनिक अर्थात 'सेंद्रिय' रंगों से बने 'ओरिजिनल' पेंटिंग्स ही रखे हैं।"

यहाँ हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि राठवा भील कलाकार स्थल-काल के कई कठिन पड़ावों से गुज़र कर आगे बढ़ चुके हैं और अपने सम्मिश्र अस्तित्व की सच्चाई को कुबूल कर अपनी कलाकारी को नए आयाम दे रहे हैं, पर यह पूंजीवादी 'मुख्यधारा' है जो इन्हें एक ख़याली जड़ अवस्था में कैद कर आज भी 'अन्य' ही बनाये रखना चाहती है। इसी प्रक्रिया को शिक्षाविद एवं समीक्षकों की दुनिया में 'एक्जोटीसाईजेशन'[११] के नाम से जाना जाता है।

यहाँ पर एक दार्शनिक प्रश्न उपस्थित होता है: बदलाव क्या है? क्या हर बदलाव बुरा होता है? कला व्यवहार में 'अच्छा-बुरा' कौन तय करता है? और कैसे? इस पड़ाव पर एक और महत्वपूर्ण उदाहरण याद आता है जो संग्रहालयीकरण (म्यूजियमाइजेशन) के सन्दर्भ में है। मेरे कुछ राठवा भील मित्र मिलकर पूर्व गुजरात के आदिवासी गाँव तेजगढ़ में एक अद्भूत आदिवासी संग्रहालय चलाते हैं। यह संग्रहालय कोई जड़ वास्तु नहीं परन्तु एक जीवंत और खुला हुआ स्थान है जहाँ हर समय भिन्न-भिन्न आदिवासी कलाकार आकर अपनी कला-कारीगरी पेश करते रहते हैं। यहाँ हर समय संगोष्टी-वार्तालाप एवं कला कार्य शिविरों का आयोजन होता रहा है। मेरे राठवा मित्र अपने समाज की कला, रीति-रिवाज, परंपरा संजोयी जाय एवं उनका अभ्यास बेहतर रूप से हो, इस कारण अपने गाँव के देवी देवताओं की मूर्तियाँ एवं उनसे जुड़े कर्मकांडों का भी संग्रहालय में स्थापन एवं अनुष्ठान करते हैं। इसके

चलते कभी कभी आदिवासी समाज मेरे आदिवासी मित्रों पर नाराज़ हो उठता है, और कहता है; "क्या हमारे देवी-देवता भी अब प्रदर्शन की वस्तु बन गए हैं? हर कर्मकांड और अनुष्ठान के पीछे कुछ कुदरती एवं सामाजिक नियम होते हैं, जिनको संग्रहालय बनाने के चलते तोड़ा जा रहा है।" देखा जाय तो समाज की यह बात अपनी जगह सही है पर संग्रहालय चलानेवाले मेरे राठवा भील मित्र इससे और आगे की सोच रहे हैं, वे बखूबी जानते हैं कि बदलाव की तीव्र लहर के चलते कई आदिवासी परम्पराएं बहुत जल्द स्वयं को पूर्णत: खोने की कगार पर है। तो यही सही समय है कि जब इन धाराओं में छिपा ज्ञान आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए संजो के रखा जाय, संरक्षित किया जाय।

क्या है आदिवासियों का यह ज्ञान? उदाहरण के लिए, अंदमान निकोबार टापुओं पर भयंकर सुनामी तूफान के चलते २००४ में हजारों लोगों ने अपनी जान गँवाई लेकिन यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इस सुनामी के दौरान जारवा समूह के लगभग २५० आदिवासी जंगल के किसी ऊँचे छोर पर पहुँच गए और सुरक्षित - जीवित रहे। ऐसा क्यों हुआ, कैसे हुआ? इसका उत्तर है, अपनी प्राकृतिक सूझबूझ एवं निसर्ग-ज्ञान के चलते समंदर की लहरों के बदलते हुए रूप-रंग-गंध को समय पर ही ताड़ कर जारवा अदिवासियों ने आनेवाले ख़तरे को पहचान लिया और सुनामी आने से पहले ही वे जंगल के अन्दर सुरक्षित स्थल पर निकास कर गए।

क्या जारवाओं का यह निसर्ग-ज्ञान पुरातन एवं कालबाह्य हो गया है? इस ज्ञान की आनेवाली पीढ़ियों को कोई आवश्यकता नहीं? दुर्भाग्य से हमारे समाज में अब भी एक विशाल वर्ग ऐसा है जो अंग्रेजी मानसिकता से जकड़ा हुआ है, तथापि वह सोचता है कि यह आदिवासी समूह, इनका ज्ञान एवं इनकी कलाएं समय के किसी छोर पर थमे हुए, एक पुरातन, अवशेष सी ही अवस्था में स्थित हैं, जिनका आधुनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु क्या 'परंपरा बनाम आधुनिकता' ऐसी कोई द्विती वास्तव में अस्तित्वमान है? या यह दोनों प्रक्रियाएं हमेशा एक साथ ही घटित होती रहती हैं?

'परंपरा' यह शब्द कुछ पीढ़ी पूर्व से चले आ रहे किसी विचार,

प्रवृत्ति एवं तत्त्व का द्योतक है और इस में एक आतंरिक प्रवाह का होना अनुस्यूत है। परंपरा कोई अवरुद्ध वस्तु नहीं, किन्तु एक गतिमान अवस्था है जिसमें हर समय नए विचार, प्रवृत्ति एवं तत्व जुड़ते रहते हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी इस ज्ञान का संसरण होता रहता है। दक्षिण भारत के महान संगीतकार पंडित बालमुरलीकृष्णन इसको स्पष्ट करते हैं। उनका यह उद्धरण देखिये – वे कहते हैं; "बिना किसी जोड़ एवं परिवर्धन के, किसी परंपरा का कोई अस्तित्व नहीं है।" इस अर्थ में आधुनिकता भी इसी प्रवाहिता का एक अंग बनकर उभरती है। दुर्भाग्य से कुछ बलवान समाजों ने अपनी सुविधा और स्वार्थ के लिए परंपरा में अनुस्युत प्रवाहिता को खंडित कर दिया, और जो भी इस स्वार्थपरायणता एवं अवरुद्ध, जड़ मानसिकता का विरोध करे, उसे 'आधुनिक' अथवा 'विद्रोही' करार दिया गया। साथ ही आधुनिकता का सम्बन्ध औपनिवेशिकता तथा पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से भी जोड़ा गया, परन्तु सदभाग्य से संगीत ने अभी भी परंपरा की इस अनमोल प्रवाहिता को जीवित रक्खा है। आदिवासी संगीत एवं कला को पुरातन समझनेवालों के लिए गुजरात के खेडब्रह्मा जिले के इर्दगिर्द रहनेवाले डूंगरी भीलों के मौखिक महाभारत से एक 'आधुनिक' कथा प्रस्तुत है, 'धोफा अने वासंग।'

एक बार पाताल लोक का राजा वासुकि, अर्थात वासुकि यह अति विशाल नाग अपने पाताल-महल में विश्राम कर रहा होता है। तभी पृथ्वी लोक से झड़कर एक अति मुलायम, सुनहरे बालों की लट वासुकि की विशाल छाती पर आ गिरती है। उस लट के मुलायम स्पर्श से, सुनहरे रूप से एवं मादक गंध से वासुकि उद्दीपित हो उठता है। सोच में पड़ जाता है, किस सुंदरी की है भला यह लट? मुझे उस सुंदरी का दर्शन करना ही होगा। बेचौन हुआ वासुकि निकल पड़ता है खोज में। वासुकि तो आखिर वासुकि है, नागों का नाग, महा नाग – वह अपनी अतीन्द्रिय शक्ति से ताड़ लेता है सुंदरी का अता-पता जो पृथ्वी लोक में होता है। सुंदरी के महल पहुँच कर देखता है तो वह अभूतपूर्व लावण्या, तेजस्विनी और कोई नहीं, स्वयं द्रौपदी है। वासुकि द्रौपदी के समक्ष खड़ा होकर सुनहरी लट की कथा सुनाने लगता है, वासुकि का भव्य दिव्य रूप देख द्रौपदी भी अचंबित हो जाती है। दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति मोह,

अनुराग जागता है। जैसे ही वासुकि समागम की माँग करता है, द्रौपदी कह उठती है: "पर आज रात्रि तो अर्जुन की बारी है मेरे महल पधारने की, फिर हमारा मिलन कैसे संभव होगा महाराज? वासुकि हँस पड़ता है और कहता है: "अर्जुन की चिंता तुम मत करो, उसे मैं देख लूँगा।" रात्रि के समय जब अर्जुन द्रौपदी के महल में प्रवेश करता है, वासुकि तुरंत उससे युद्ध का आह्वान करता है। वासुकि को देख अर्जुन के क्रोध की कोई सीमा नहीं रहती, परन्तु सत्य तो यह है कि एक वासुकि अति विशाल नाग है, और उसके समक्ष अर्जुन एक अदना सा मनुष्य जीव। बड़ी सहजता से वासुकि अपनी मूँछ के एक धागे से अर्जुन को बाँधकर दीवार की खूँटी पर लटका देता है। असहाय अर्जुन रात भर द्रौपदी एवं वासुकि के उत्कट प्रणय को देखते रहता है। प्रात:काल होते ही वासुकि प्रयाण कर जाता है पाताल लोक की ओर, किन्तु अर्जुन वहीँ खूँटी पर टंगा रह जाता है। बिलबिलाकर अर्जुन द्रौपदी से कहता है, "कैसी पत्नी हो तुम बेहया? इतना सब होने के बाद अब कम से कम मेरी इस महा नाग-पाश से मुक्त होने में मदद करो। मेरी बात ध्यान से सुनो, केवल एक ही योद्धा है जो वासुकि को पराजित कर मुझे मुक्त कर सकता है, वह है कर्ण। जाओ कहो कर्ण से कि मुझे छुड़ाए वासुकि के इस पाश से।" द्रौपदी अपने पति अर्जुन की बात मान लेती है और उसकी मुक्ति के लिए कर्ण के द्वार पहुँच तो जाती है। पर जैसे ही वह कर्ण से अर्जुन की मुक्ति के लिए प्रार्थना करती है, कर्ण हँस कर पूछता है, "क्यों देवी? मैं तो एक अवैध संतान हूँ जिसके न पिता का, ना ही वंश का कोई अतापता है, इसी बात को ले कर तुम्ही ने तो मेरी ठिठोली की थी ना भरी सभा में? तो आज कैसे आ गयी मेरे द्वार?" यह सुनकर द्रौपदी द्रवित हो उठती है, कर्ण से कहती है, "तुम कर्ण हो, महावीर, दानवीर कर्ण! अर्जुन को तुम नहीं तो और कौन मुक्त करा सकता है?" जैसे वासुकि वासुकि है, तो कर्ण भी कर्ण है। द्रौपदी की बात का सम्मान करते हुए अपने आयुध उठा चल पड़ता है वासुकि को पराजित करने। जैसे हम जानते हैं, कर्ण को सूर्य का तेज प्राप्त है जो पाताल निवासी वासुकि झेल नहीं पाता और झट से अपनी मूँछ का धागा तोड़ अर्जुन को जमीन पर गिरा देता है।

"..वासंग जागा एक झटके से
वह एक झटके से जागा
पाताल नरेश भौंचक्का था

राजा को सीने में एक ख़लिश हुई
उसने अपने सीने में कुछ महसूस किया
सुनहरे बाल का छल्ला उसके हाथ में फँसकर रह गया

राजा अचंभित था
अचंभित था वह
उसने सुनहरे बाल को नज़र भर देखा..."

मौखिक परंपरा में संजोया गया भीलों का यह महाभारत, गुजरात के लेखक-अभ्यासक भगवानदास पटेल ने 'भारत' (२०१२) के नाम से ग्रन्थ रूप में भीली भाषा में ही संकलित किया है। रात रात भर आनंद मगन में नाचते गाते हुए गुजरात के डूंगरी भील आदिवासी द्रौपदी और वासुकि नाग की यह प्रेमकहानी "धोफा अने वासंग" सुनाते कभी नहीं थकते।

यह कथा सुन कर मैंने भगवानदास भाई से पूछा, कि इस प्रकार एक स्त्री को स्वयं के पति के अलावा अन्य पुरुष से समागम करने की अनुमति कैसे देता है भील समाज? तब भगवानदास भाई ने समझाया, "भील आदिवासी समाज पत्नी को पति की जागीर नहीं समझता, इसीलिए वो स्त्री के अपने तरीके से जीने के अधिकार को अबाधित रखता है।" भगवानदास भाई की यह बात याद करती हूँ तो बार-बार यही ख़याल मन में उठता है भीलों के इस पारंपरिक मौखिक महाकाव्य में वर्णित यह द्रौपदी एक 'आधुनिक' स्त्री नहीं तो और क्या है? एक ऐसी स्त्री जो अपनी भावनाओं को, एवं शारीर संवेदनाओं को दबाती-छिपाती नहीं, न ही अपनी लैंगिकता का उत्सव मनाने से डरती है। परन्तु गौर करने पर हम देख सकते हैं, यह कथा केवल द्रौपदी के मुक्त होने के बारे में ही नहीं, किन्तु अर्जुन और वासुकि, इनके बीच के महासंघर्ष की भी है जहाँ पाताल लोक निवासी वासुकि जो एक नाग प्रजाति है, एक

महापराक्रमी क्षत्रिय योद्धा अर्जुन को बड़ी आसानी से पराजित करता हुआ नज़र आता है। हम जिसे मुख्यधारा का महाभारत कहते हैं, उस व्यास महाभारत के कथन को पूरी तरह पलट देता है भीलों का यह महाभारत। यही भीलों की प्रज्ञा है, एक अनूठी, जादुई प्रज्ञा।

क्या 'धोफा अने वासंग' जैसी स्थानिक / प्रांतीय समझी जानेवाली असंख्य आदिवासी गाथाओं को मुख्य राष्ट्रीय कथन में / साहित्य में स्थान नहीं देना चाहिए? 'स्थानिक बनाम राष्ट्रीय' इस द्विती को प्रख्यात इतिहासकार प्रथमा बैनर्जी ने बड़ी सटीकता से संबोधित किया है। वे कहती हैं:

"उन्नीसवीं शताब्दी के औपनिवेशिक सन्दर्भ देखें तो उसमें आदिवासी का रूप कैसे दर्शाया गया है? आदिवासी! जो अमूमन पिछड़ा हुआ, जंगली, शरीराधीन, अविचारी एवं हिंसक हो। परंतु बीसवीं शताब्दी के भारतीय राष्ट्रवाद ने भी तो क्या किया आदिवासी के साथ? राजकीय मिसाल कायम करने के हेतु एक तरफ़ तो वह आदिवासी को 'आधुनिक' एवं 'राष्ट्रीय' बनाना चाहता है, तो दूसरी तरफ़ चाहता है कि आदिवासी अपनी 'आदिमता' व 'मौलिकता' बनाए रक्खे। औपनिवेशिक इतिहास लिखते समय आदिवासी कल्पना एवं कथा कविताओं को 'स्थानिक' समझते हुए इतिहास से बाहर रखा गया। हालाँकि, आदिवासी की स्मृति एवं कल्पना भी एक ठोस वास्तविकता थी, जिसे नकारा गया। राष्ट्र के इस दोहरे बर्ताव से जन्मा आदिवासी विद्रोह। पर उसे भी दबाते हुए 'राष्ट्र' यह एकमेव संकल्पना ऐतिहासिक सच्चाई के तौर पर उभर आयी। इतिहास ने इस स्थानिक आदिवासी जीवन संस्कृति से उपजी सामग्री का उपयोग तो भरपूर किया परंतु अपने मुख्य राष्ट्रीय कथन मे आदिवासी को सम्मिलित करने की ज़िम्मेदारी नहीं उठायी, परिणामत: आदिवासी का सांस्कृतिक एवं सामाजिक दोहन होता रहा परंतु उसे राष्ट्रीय एवं राजकीय पहचान प्राप्त नहीं हो सकी। इस 'राष्ट्रीयता' ने आदिवासी को अतीत का महज़ एक अवशेष बनाकर रख दिया, इसी कारण आगे चलकर बीसवीं शताब्दी के अंत तक आदिवासी विश्व इस 'राष्ट्रीयता' के विरुद्ध हो गया और आदिवासी विद्रोह तीव्र होते गए।"[१२]

भीलों द्वारा प्रस्तावित भीलिस्तान (काले रंग में दर्शाया हुआ प्रदेश)

मुझे याद है। मई २०१४ में मध्यप्रदेश के मथवाड गाँव, अलीराजपुर जिले में आदिवासियों द्वारा जंगल मेले का आयोजन किया गया था। इस जंगल क्षेत्र पर सरकार द्वारा हो रहे आक्रमण को रोकने के लिए हजारों की संख्या में आदिवासी एकत्रित हो कर 'जंगल बचाव' का नारा दे रहे थे। परन्तु विरोधाभास देखिये, जिस क्षेत्र में अब तक बिजली-पानी तक भी नहीं पहुँचे हैं ठीक से, वहाँ सारे आदिवासी समूह अपने अपने ट्रक, टेम्पो, फ्लड लाइट और सब से जरूरी ऐसी डीजे सिस्टम अपने साथ ले कर आये थे। लाउडस्पीकर के सहारे हर समूह जोर-जोर से चिल्लाकर अपनी बात रख रहा था। इस आन्दोलन के चलते मथवाड में बची खुची शान्ति और निर्मलता कहीं खो सी गयी। परन्तु क्या हम इस घटना की सारी ज़िम्मेदारी आदिवासियों पर डाल देना उचित होगा?

ऐसी ही एक याद कलेश्वर गाँव, गुजरात के मेले की भी है। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों से प्रत्येक महाशिवरात्रि के दिन गुजरात के महिसागर

जिले में 'कलेश्वरी' मेले का आयोजन होता है। गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश के लगभग बीस हजार भील आदिवासी प्रति वर्ष इसमें सम्मिलित होते हैं और अपनी अपनी कला पेश करते हैं। आपस में वार्तालाप होता है। कुछ नए आदिवासी कार्यों का, योजनाओं का गठन होता है। इस मेले की विशेषता यह है कि यहाँ पर कोई माइक और स्पीकर का इस्तेमाल नहीं करता। हर कोई अपनी कुदरती आवाज में बोलता और गाता है। २०१४ की फरवरी महीने में, मैं भी वहाँ अपने भील आदिवासी मित्रों के साथ गायन प्रस्तुत करने गयी थी, पर देखा तो भीलों का एक समूह अपने साथ बड़े-बड़े स्पीकर और माइक लेकर आया था, उस बड़े लाऊड स्पीकर के चलते उन्होंने बाकी सब की आवाज़ दबा दी थी। मैंने गला फाड़कर गाने की कोशिश की पर कोई सुन न सका। मेरी हालत देख मेले के आयोजक कानजी भाई बोले, रुकिए आप। मैं बात करता हूँ। और वे उस समूह के पास गए और कहा, "भाई, कलेश्वरी मेले का का आयोजन आदिवासी की दबी हुई आवाज़ को सुनने के लिए होता है, औरों की आवाज़ को दबाने के लिए नहीं। गर आप इस बात को समझ पा रहे हैं तो कृपया अपने स्पीकर बंद करिए।" कानजी भाई की इस बात का तुरंत असर हुआ। स्पीकर बंद हुआ। कोलाहल थम गया।

इन सारे सांस्कृतिक, राजकीय एवं सामाजिक कोलाहल के बीच, मेरा यानि एक शोधक का कर्तव्य क्या है? शोधक को चाहिए कि वह आदिवासी विश्व की अनेकात्मकता, रूपकात्मकता एवं जटिलता – और सब से ख़ास ऐसी आदिवासी की राजकीय एवं सांस्कृतिक पहचान को स्वीकारे, समझे, और उसका संवेदनशीलता एवं तटस्थता से अभ्यास करे। परन्तु क्या एक शोधक सही मायने में अपनी तटस्थता कायम रख पाता है? क्या उसे अपनी तटस्थता कायम रखनी चाहिए? शोध की राह भी ऐसी कई चुनोतियों और दुविधाओं से शोधक को घेरे रखती है।

यहाँ पर समस्या यह है कि गर मैं आदिवासी संगीत से अपने आप के अस्तित्व को एवं संगीत को जुड़ा हुआ पाती हूँ और इस संगीत को अपना समझ कर गाने बजाने लगती हूँ, तो यह प्रश्न उठता है कि क्या मैं इन समाजों के सेंद्रिय अस्तित्व को तोड़कर वहाँ स्वयं के लिए जगह

बनाने की कोशिश कर रही हूँ? और गर मैं "यह संगीत अपने आप में स्वयंपूर्ण है, उसे किसी बाहरी अनुमोदन की आवश्यकता नहीं!" ऐसा कहती हूँ, तो मुझे पूछा जाता है कि क्या मैं इस संगीत का अश्मीभूतीकरण (ऑसीफिकेशन) कर रही हूँ, और उसकी संवादात्मकता, जीवन्तता एवं गतिशीलता को नकार रही हूँ?

उसी प्रकार यदि हम यह समझ कर चलते हैं कि आदिवासी समाज तो भोलेभाले-मासूम, और दुनियादारी से बेख़बर हैं, परिणामतः मुख्यधारा इनका शोषण कर रही है, तो हम आदिवासी की स्वयंभू पहचान को और उनकी राजनितीक सूझबूझ को अनदेखा कर देते हैं। और इस प्रकार - "आदिवासी समाज सहज-भेद्य अर्थात 'व्हल्नरेबल' हैं" इस ग़लत मान्यता का भी समर्थन कर बैठते हैं। तो दूसरी ओर, जब हम आदिवासी समाजों की स्वतंत्र सामाजिक-राजकीय पहचान को स्वीकार लेते हैं, तो फिर इस स्वतंत्र पहचान के बावजूद उनके ख़िलाफ़ जो अत्याचार हो रहे हैं, उसका संज्ञान हम किस प्रकार लें एवं शोषण की लड़ाई के विरूद्ध आदिवासी समाजों का साथ किस प्रकार निभाएँ, ये जटिल प्रश्न आ खड़े होते हैं।

शिक्षाविदों का विश्व भी इसी विडम्बना से भरा पड़ा है जहाँ अधिकतर केवल भाषणों में और पुस्तकों में ही हम 'आदिवासिता' का पुरस्कार करते रहते हैं, और ऐसा करते हुए भी एक प्रकार से स्वयं को ही महान घोषित करते हैं। इस विडम्बना पर ज़ोरदार तंज़ कसते हुए अमरीकी स्त्रीवादी लेखक बेल हुक्स कहती हैं:

"ओ मातहत! (सबआल्टर्न)
क्या ज़रूरत है तुम्हें बोलने की?
जब कि मैं तुम्हारे बारे में तुमसे अधिक अच्छा बोल सकता हूँ?
तुम केवल मुझे अपनी वेदना के बारे में बताओ
और फिर तुम्हारी कहानी मैं तुम्ही को सुनाऊँगा अपने अंदाज़ में!
कुछ इस तरह, कि वह कहानी बिलकूल मेरी अपनी लगे!
तुम्हें दोबारा लिखते लिखते मैं स्वयं को ही लिखता हूँ एकदम नए सिरे से!

अभी भी, मैं ही लेखक हूँ.. रचयिता भी मैं!
स्वामी तुम्हारा! एकमेव कथनकार...
और अब, तुम मेरे कथन की केंद्रीय विषयवस्तु हो!"[१३]

इसी धागे को बड़ी सटीकता से उधेड़ते हुए जगविख्यात इतिहासकार गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक भी अपने बहुचर्चित आलेख में प्रश्न उठाती हैं कि क्या सचमुच समाज के मातहत अर्थात दबाये गए वर्ग हमारे समक्ष बोल सकते हैं? 'कैन सबाल्टर्न स्पीक?'[१४] आज के सन्दर्भ में इस प्रश्न का एक गंभीर उत्तर सामने आता है, जहाँ आदिवासी अपने अस्तित्व, अपनी गरिमा को संजोते हुए, केवल बोलते ही नहीं, परन्तु नाचते-गाते भी हैं। नव-कविता, जागरण-गीत रचते हैं और इन सब को प्रतिकार का एक राजकीय साधन बनाकर तथाकथित मुख्यधारा के प्रति धिक्कार भी व्यक्त करते हैं. अब सवाल यह है की आदिवासी तो गा रहा है, पर क्या हम सुन पा रहे हैं वो गीत? भीलों का यह जागरण गीत देखिये:
जागजो मारा हंगळा भायो, कणी निंदरा मां हुता हो

जमी माता तरही थाई गई, कणी निंदरा मां हुता हो
गैंती लीजो पावड़ा लीजो, कणी निंदरा मां हुता हो
डेम बान्दजो तळाव बान्दजो, कणी निंदरा मां हुता हो
गामेगाम पौधा लगाडजो, कणी निंदरा मां हुता हो
करम करजो धरम बडहे, कणी निंदरा मां हुता हो
जमी माता हरीभरी थाहे, कणी निंदरा मां हुता हो
जागजो मारा हंगळा भायो, कणी निंदरा मां हुता हो[१५]

भावार्थ:

जागो रे मेरे सभी भाइयों! किस नींद में सोये हो?
धरती माता प्यासी हो गयी, किस नींद में सोये हो?
गैंती उठाओ फावड़ा उठाओ, किस नींद में सोये हो?
डैम बांधो तालाब बनाओ, किस नींद में सोये हो?
गाँव गाँव में पेड़ लगाओ, किस नींद में सोये हो?
करम करोगे धरम बढेगा, किस नींद में सोये हो?

धरती माता हरी-भरी होगी, किस नींद में सोये हो?
जागो रे मेरे सभी भाइयों! किस नींद में सोये हो?

उसी प्रकार उरांव आदिवासी समाज, रांची - झारखण्ड की जानीमानी पत्रकार लेखक जसिंता केरकेट्टा की यह हिंदी कविताएँ देखिये।

कविता का शीर्षक है: *मातृभाषा की मौत*
माँ के मुँह में ही मातृभाषा को कैद कर दिया गया
और बच्चे उसकी रिहाई की मांग करते करते
बड़े हो गए।
मातृभाषा खुद नहीं मरी थी, उसे मारा गया था
पर, मां यह कभी न जान सकी।
रोटियों के सपने दिखाने वाली संभावनाओं के आगे
अपने बच्चों के लिए उसने भींच लिए थे अपने दाँत
और उन निवालों के सपनों के नीचे
दब गई थी मातृभाषा।
माँ को लगता है आज भी
एक दुर्घटना थी
मातृभाषा की मौत...

-जसिंता केरकेट्टा

इसी प्रकार जसिंता की एक और महत्वपूर्ण कविता को यहाँ पर उद्धृत करना उचित होगा।

यहीं-कहीं इसी शहर में...।।
ग़ायब होती गौरैया ने देखा
शहर के अंदर
कटकर गिरा कोई जंगल
जिसके निशानों के पास
बैठकर उसकी स्मृति के साथ
यह शहर अपनी शाम गुज़ारता है।
इसी शहर के अंदर

गिरा एक पेड़ समय से पहले
उसकी 'धड़ाम' की आवाज से
जरा सा हिला यह शहर, अपनी नींद में।
इसके अंदर दम तोड़ रहीं हैं नदियां
और अपनी स्मृतियों में
वह रख लेता है उन्हें ज़िन्दा
ताकि अपने बच्चों की कल्पनाओं में
खींच सके कोई
जीवित रेखाचित्र किसी नदी का।
ग़ायब होती गौरैया ने देखा
शहर की भीड़ के हाथों
तितलियों को मरते हुए
और बच्चों ने देखा
मैदानों को श्मशानों में बदलते हुए।
बच्चों का विश्वास है
जबतक बचा है पृथ्वी पर एक भी फूल
तितलियां मर नहीं सकतीं
वे लौट सकती हैं
दुनिया के किसी भी कोने से
इसलिए हाथों में फूल लेकर
बच्चे ढूँढ़ रहे हैं तितलियों की कब्र
यहीं-कहीं इसी शहर में...[१६]

-जसिंता केरकेट्टा

और जानेमाने आदिवासी कवि एवं एक्टिविस्ट स्व. अभय खांखा द्वारा अंग्रेजी में लिखे गए आदिवासी नव-काव्य का यह उदाहरण देखिये:

"मैं आपका डेटा नहीं हूँ, न ही मैं आपका वोट बैंक हूँ,
मैं आपकी परियोजना या कोई विदेशी संग्रहालय वस्तु नहीं हूँ,
मैं वह आत्मा नहीं हूँ जो फलने-फूलने की प्रतीक्षा कर रही है,
न ही मैं वह प्रयोगशाला हूँ जहाँ तुम्हारे सिद्धांतों की परीक्षा होती है,

मैं आपकी तोप का चारा या अदृश्य कार्यकर्ता नहीं हूँ,
या इंडिया हैबिटेट सेंटर में आपका मनोरंजन,
मैं आपका विस्तार नहीं, आपकी भीड़, आपका इतिहास, आपकी मदद,
आपका अपराधबोध, आपकी जीत का पदक,
मैं मना करता हूँ, अस्वीकार करता हूँ, आपके हरेक लेबल का विरोध करता हूँ,
आपके निर्णय, दस्तावेज, परिभाषाएं, आपके मॉडल, नेता और संरक्षक,
क्योंकि वे मुझे मेरे अस्तित्व, मेरी दृष्टि, मेरे स्थान से इनकार करते हैं,
आपके शब्द, मानचित्र, आंकड़े, संकेतक, वे सभी भ्रम पैदा करते हैं
और आपको ही ऊँचे आसन पर बिठाते हैं, जहाँ से आप मुझे नीची दृष्टि से देखते हो,
इसलिए मैं अपना चित्र ख़ुद बनाता हूँ, और अपने व्याकरण का आविष्कार करता हूँ,
मैं अपनी लड़ाई ख़ुद लड़ने के लिए अपने औजार ख़ुद बनाता हूँ,
मेरे लिए, मेरे लोगों के लिए, मेरी दुनिया के लिए और मेरी आदिवासी पहचान के लिए![१७]

– अभय खांखा

ऊपर दिये गये भीलों के जागरण गीत हों या जसिंता और अभय की कविता, इन्हें पढ़ कर, सुनकर चित्त व्याकुल हो उठता है। युगों के अपरिमित दमन और शोषण के बाद उठी हुई यह आवाज भीलों की तीव्र 'किकियारी' समान प्रतीत होती है। लगता है 'आदिवासी' यह अब केवल एक संज्ञा नहीं रही, बल्कि एक विशाल चेतना बन उजागर हो रही है।

अभय और जसिंता को पढ़ते हुए मेरे तथाकथित मुख्य-प्रवाहीय और प्रिव्हिलेज-युक्त होने पर भी कई सवाल उठ खड़े हो सकते हैं। क्या किया जाय फिर इन सवालों का? एक संभावना यह भी हो सकती कि इन सवालों का जवाब इंसानी रूमानियत में ढूँढ़ा जाय.. यह रूमानियत क्या करती है भला, तो 'मैं' और 'तुम' के भेद से परे 'हम' की आवाज़ को सुनने का यत्न करती है और कहती है, "ऊपर ऊपर से भले ही

यह लगता हो कि तुम्हारी और मेरी रूह एक ही आवाज़ से न बनी है और हमारे इर्द गिर्द कई आवाज़ें हैं जो एक दूसरे से टकराती रहती हैं पर एक सत्य यह भी है कि यह आवाज़ें किसी न किसी छोर पर एक दूसरे में घुलमिल भी जाती हैं। आवाज़ों के इस तिलिस्मी जिस्म से ही पैदा हुए हैं हम और तुम, हमारी कायनात एक ही है, तो क्या आज हम-तुम मिलकर एक नए अंदाज में, नयी आवाज़ में नहीं गा सकते साथ-साथ?" हर रूमानियत के तले एक गहरा दर्द छिपा रहता है, जो मेरा तुम्हारा दोनों का है, फिर भी देखा यह गया है कि ऐसी इंसानी रूमानियत कई बार केवल एक भद्दा मज़ाक बनकर रह जाती है पर यह भी एक सच्चाई है कि यह रूमानियत ही है, जो इंसान की साँसों को गर्म रखती है।

ऐसी उथल पुथल और जद्दोजहद के बीच जब भी मैं आदिवासी और आदिवासी संगीत के बारे में सोचती हूँ तो लगता है कि यह जैसे मधुमक्खियों का एक घना छत्ता है, जो इन सारे विवादों के चलते आहत हो गया है, टूट सा गया है। (भील आदिवासियों के अनेक व्यवसायों में से एक है मधुमक्खी पालन) मधुमक्खी का छत्ता अनेक कारणों से टूटता है.. कभी मधु निकालते हुए, तो कभी मधुमक्खियाँ ख़तरनाक मालूम पड़ती हैं इसलिए, कभी कुदरती संकट के चलते, कभी अनजाने में और कभी कभी तो मधुमक्खियाँ स्वयं ही उसे त्याग देती हैं। पर देखेनेवाली बात यह है कि भले ही उनका छत्ता टूट जाय, मधुमक्खियाँ बहुत जल्द दूसरी काबिल जगह ढूँढ़ कर फिर से छत्ता बनाने में लग जाती हैं। उसी प्रकार संगीत, किसी भी रूप में, अपना अस्तित्व अवश्य बनाए रखता है। अपनी क्षमता, प्रभावकारिता को कभी नहीं खोता, तभी वह संगीत कहलाता है। 'आदिवासी संगीत' भी ऐसा ही एक संगीत है, जिसने अपनी समयपरता बनाए रख, सारे आक्रमण संक्रमण के परे स्वयं को बड़े ही अद्भूत रूप में जीवित रखा है।

सन्दर्भः

१) 1) Music as Phenomenon - Laurence, Felicity, and Olivier Urbain, eds. Music and solidarity: Questions of universality, consciousness,

and connection. Vol. 1. Transaction Publishers, 1999.31.

२) https://www.britannica.com/art/musical-notationद

३) http://matterundermind.com/the-pentatonic-scale-is-this-the-global-music-of-humanity/

४) Jeremy Day-O'Connell (2009). "Debussy, Pentatonicism, and the Tonal Tradition" (PDF). *Music Theory Spectrum*. 31 (2): 225–261. doi:10.1525/mts.2009.31.2.225.

५) https://www.youtube.com/watch?v=ne6tB2KiZuk

६) "Folklore can show us that this dream is age-old and common to all mankind. It asks that we recognize the cultural rights of weaker peoples in sharing this dream. And it can make their adjustment to a world society an easier and more creative process. The stuff of folklore—the orally transmitted wisdom, art and music of the people can provide ten thousand bridges across which men of all nations may stride to say, "You are my brother." – Alan Lomax: Selected Writings, 1934-1997 edited by Ronald Cohe.

७) https://www.scribd.com/document/228581222/Report-on-Syncretism-in-Music

८) https://www.uou.ac.in/sites/default/files/slm/BY-102.pdf

९) https://www.sciencedirect.com/topics/social-sciences/orientalism

१०) https://www.brainyquote.com/quotes/damian_marley_571511
You say 'African music' and you think 'tribal drumming.' But there's a lot of African music that sounds very Hispanic. - Damian Marley

११) https://www.merriam-webster.com/dictionary/exoticization

१२) Banerjee, Prathama. "Politics of Time." Oxford University Press, 2006.

१३) Hooks describes the relationship between the academic and the subaltern: *[There is] no need to hear your voice, when I can talk about you better than you can speak about yourself. No need to hear your voice. Only tell me about your pain. I want to know your story. And then I will tell it back to you in a new way. Tell it back to you in such a way that it has become mine, my own. Re-writing you, I write myself anew. I am still the author, authority. I am still [the] colonizer, the speaking subject, and you are now at the centre of my talk.* —"Marginality as a Site of Resistance" 1990

१४) Spivak, Gayatri Chakravorty. "Can the subaltern speak?" Can the

subaltern speak? Reflections on the history of an idea 1988: 21-78.

१५) https://www.youtube.com/watch?v=ZEzJ8EEfFqU

१६) Jasinta Kerketta Hindi Poems - http://www.adivasiresurgence.com

१७) Abhay Xaxa http://www.adivasiresurgence.com/i-am-not-your-data/

I am not your data, nor am I your vote bank,
I am not your project, or any exotic museum object,
I am not the soul waiting to be harvested,
Nor am I the lab where your theories are tested,
I am not your cannon fodder, or the invisible worker,
or your entertainment at India habitat centre,
I am not your field, your crowd, your history,
your help, your guilt, medallions of your victory,
I refuse, reject, resist your labels,
your judgments, documents, definitions,
your models, leaders and patrons,
because they deny me my existence, my vision, my space,
your words, maps, figures, indicators,
they all create illusions and put you on pedestal,
from where you look down upon me,
So I draw my own picture, and invent my own grammar,
I make my own tools to fight my own battle,
For me, my people, my world, and my Adivasi self!"

Abhay Xaxa was born and brought up in Jashpur District of Chhattisgarh. He was a poet, tribal activist and National Convenor at the National Campaign on Adivasi Rights.

अध्याय चार

अनुभव

ज्ञान का एकमात्र स्रोत अनुभव है।[१]

–आल्बर्ट आइन्स्टाइन

अनुभव एक

सन २०१२ मार्च, छत्तीसगढ़। आदिवासी संगीत यात्रा चल रही थी। यात्रा में अब तक मिले कुछ अद्‌भुत गीतों को पाकर मैं अभिभूत हो उठी थी। मैं इस जादू भरे संगीत के और कुछ अंश बटोरने के लिए उतावली हो गयी थी। अगले दिन सुबह पाँच बजे कांकेर के लिए निकलना था। रायपुर से कांकेर, कांकेर से अंतागढ़, अंतागढ़ से जगदलपुर, बस्तर से दंतेवाड़ा ऐसी यात्रा तय की गयी थी। इतने में ख़बर आयी कि बस्तर का वातावरण एक बार फिर अशांत हो गया है। (जैसे कि हम जानते हैं, बस्तर और उसका बीहड़ जंगल एक नक्शल संवेदनशील विस्तार है।) मुझे बताया गया कि इस वक़्त मेरा वहाँ जाना मुनासिब न होगा। रायपुर के एक बुज़ुर्ग लेखक बोले, "गर मेरी बेटी होती तो मैं उसे कतई न भेजता बस्तर के जंगलों में, और आदिवासियों से मिलने तो हरगिज़ ही नहीं।" उनकी बात सुनकर मैं सहम सी गयी। मन में भय की तीव्र लहर दौड़ने लगी। उस रात मैं सो न सकी। जीवन–मृत्यु पर घमासान चिंतन करते करते रात के एक छोर पर थकान सी हुई। कोई कब तक जागा हुआ रह सकता है भला? आखिर मेरी आँख लग ही गयी। सुबह होते–होते देखा, तो होठों पर फ़िलसुफ़ उमर ख़य्याम की एक रुबाई आ खड़ी थी। ख़य्याम कहते हैं, "जीवन क्या है? तप्त बिल्लौर पर गिरी बारिश की कुछ बूँदें, जो अभी हैं.. अभी नहीं!" इस रुबाई ने मुझे बड़ा दिलासा दिया। मन धीमे धीमे शांत हुआ। लगा, जैसे जीवन ने मुझे एक

अनमोल अवसर प्रदान किया है – अपने भय भेदन का। और मैं तैयार होकर निकल पड़ी बस्तर की ओर।

अभी-अभी सीखे हुए कुछ छत्तीसगढ़ी लोकगीत और आदिवासी गीत गुनगुनाते हुए जंगल का रास्ता कैसे कट गया, मालूम ही नहीं चला। जंगल के रास्ते महुए के कई सारे पेड़, ज़मीन पर गिरे महुए के फूल एक ख़ूबसूरत चादर से लग रहे थे। हम रुक गए, कुछ फूल उठाकर उन्हें सूंघ कर देखा, एक अलग सी ख़ुश्बू। "मुझे भी देसी महुआ पीनी है!" मैंने कहा। ड्राइवर मुस्कुराकर बोला, "दीदी, आप महुआ के यह दो-चार फूल ही खा लो, आपके लिए काफ़ी है!" मैं हँस पड़ी।

अंतागढ़ पहुँचकर देखा तो वहाँ गोंड आदिवासियों के मुखिया; गुरु शेरसिंह जी आंचला मेरे स्वागत के लिए तैयार थे। उनके साथ लगभग तीस गोंड आदिवासियों का छोटा सा कबीला भी था। वे सारे आदिवासी अपने कामधाम छोड़ कर केवल मुझे गीत सुनाने अंतागढ़ के उस एक अरसे से बंद पड़े स्कूल में इकठ्ठा हुए थे। मेरी आँखों में आँसू छलक आये, मैं बहुत छोटा महसूस कर रही थी। मैंने शेरसिंह जी के पाँव छुए, उन्हें बताया कि मैं किस कदर डरी हुई थी। वे मुस्कुराए। मुझसे पूछा, "बेटी, बताओ तो मेरा नाम क्या है?" शेरसिंह जी हिंदी में बोल रहे थे। मुझे आश्चर्य हुआ. मैंने कहा: "जी, आपका नाम शेरसिंह।" वे बोले: "शेर से मिलना है तो जंगल में तो आना पड़ेगा न? गर तुम्हारे शहर ले जाओगी, तो वहाँ लोग पिंजड़े में कैद कर देंगे मुझे.." मैं फिर हँस पड़ी, मैं समझ गयी थी कि शेरसिंह जी के पास थी और मैं महफ़ूज़ थी। बस्तर में शेरसिंह जी को मिलकर मुझे उस टीवी विज्ञापन की याद आ गयी जिसमें कहते हैं, "डर के आगे जीत है!" पर मुझे लगा, "डर के आगे संगीत है!" और मैंने अपना ध्यान फिर एक बार आदिवासी संगीत पर लगाया।

उस दिन गोंड आदिवासियों ने मुझे मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक की सारी अवस्थाओं के गीत सुनाये। पर तीर की तरह चुभा मृत्यु का उत्सव करने वाला एक गीत। कमाल तो यह था कि गोंड आदिवासी दु:ख भरी आवाज में उदास हो कर नहीं, तो बड़े आनंद से नाच नाच कर गा रहे थे वह मृत्यु-गीत। मनुष्य के जन्म की तरह ही मनुष्य की

मृत्यु का भी स्वाभाविक स्वीकार। शब्दों में कैसे बयाँ करूँ, क्या पाया था मैंने बस्तर के जंगल में उस दिन।

अनुभव दो

ऐसा ही और एक अद्‌भुत अनुभव छत्तीसगढ़ संगीत यात्रा दौरान ही हुआ। खैरागढ़ में मैं मिली बेहतरीन नाचा (छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य) कलाकारों से। नाचा शुरू हुआ। और देखते ही देखते मुख्य नायिका परी का प्रवेश हुआ। मैं स्टेज से काफ़ी दूर थी, पर जैसे ही परी ने मंच-प्रवेश किया, मैं स्तब्ध रह गयी। इतना लावण्य, इतना मधुर, सुरीला गायन, ऐसा सुंदर नर्तन। मैं जैसे परी की अदाकारी में खो सी गयी। जैसे ही नाचा समाप्त हुआ मैं दौड़कर स्टेज के पीछे पहुँची और परी को देखते ही गले लगा लिया। पर क्या देखती हूँ? परी कोई स्त्री नहीं, पुरुष था - रोहित कुमार। रोहित कुमार एक गोंड आदिवासी थे। अब मैं शर्म से सिकुड़ गयी। मैंने कहा, "रोहित कुमार जी, माफ़ करना, मुझे पता है, नाचा नाट्य में परी का किरदार पुरुष ही निभाते हैं, पर आज लगा कि आखिर स्त्रियाँ भी हो ही गयी शामिल नाचा में! जरा बताइए, कैसे कर लेते हैं यह जादू आप, कि कोई भाँप ही न सके के आप पुरुष हैं स्त्री नहीं? क्या तैयारी करते हैं आप?"

रोहित कुमार बोले: "तैयारी? मैं हर तो घागरा-चोली पहेरथों.. लिपिष्टिक लगाथों.. बाल बनाथों.. अउ नजरिया अउ परी गीत गाथों.. फिर धीर धीर मोला लगथे की मैं डउकी बन गे हों! (तैयारी? मैं तो घाघरा चोली पहनता हूँ, लिपस्टिक लगाता हूँ, बाल सँवारता हूँ, और नजरिया - परी के गीत गुनगुनाता हूँ। फिर धीमे-धीमे यह महसूस होने लगता है कि मैं औरत हूँ।) मैंने पूछा,"और आपकी पत्नी, बच्चे?" उन्होंने कहा: "सब्बो मन घर में हाँवें...जब मैं नी रहों तो मोर हर खेत देखते, बच्चा मन ला पालथे..." (सब हैं घर पर... जब मैं नहीं रहता हूँ तब पत्नी खेत देखती हैं, बच्चों की देखभाल करती है) "क्या उन्हें अच्छा लगता है आपका औरत बनना?" इस प्रश्न पर रोहित कुमार हँसकर बोले, "ओला बहुत अच्छा लगथे कि ओकर डउका हर गवैया हावे!" (जी बहुत ही अच्छा लगता है उसे कि उसका पति एक

कलाकार है।) रोहित कुमार जी के यह जवाब मुझे लाजवाब कर गए।

इस संगीत यात्रा के दौरान मैंने फिर एक बार महसूस किया कि एक स्त्री का अपने अन्दर के पुरुष तत्व को उजागर करना एवं एक पुरुष का अपने अन्दर की स्त्री को बड़ी संवेदनशीलता से जाग्रत रखना, इस महीन अनुभव को हर कला अपने तरीके से टटोल कर देखती है। हिन्दुतानी संगीत की एक सदाबहार ठुमरी है: "तुम राधे बनो शाम.."- (अरे ओ श्याम.. तब तक तुम राधा की पीड़ा को, उसके प्रेम को समझ न पाओगे, जब तक की तुम स्वयं राधा न बन जाओगे! तुम राधे बनो शाम।)

अनुभव तीन

रोहित कुमार की मधुर कोमल शैली से बिलकुल विपरीत, एकदम खुली आवाज़ और तेज लय में गा रही थी चिरई बाई - और गाते गाते मुस्कुरा भी रही थी:

"*तोला माती कोड़े ल नइ आवत रे मीत, धीरे धीरे.. अरे धीरे धीरे मोरे बयनी के मीत, धीरे धीरे...*"

मैंने पूछा; "आप क्यों मुस्कुरा रही हैं इतना?" तो वे जोर से ठहाका मार कर हँसी और बोली; "अरी समझी नहीं क्या? यह चूलमाटी का गीत है, बियाह के मंगल परसंग पर मिटटी लाने का रिवाज है यहाँ, लड़की की सखियाँ वर के साथ ठिठोली कर उसे छेड़ रही है और कह रही हैं; "अरे मोरी बहन के मीत... तुझे इतनी सी मिटटी खोदना भी ठीक से नहीं आता? जरा धीरे, क्या होगा नहीं तो बियाह के बाद?"

"ओह.. मिटटी खोदना.. तो इसमें वर-वधु के मिलन की बात है", मैंने कहा। चिरई मुस्कुराकर बोली, "हाँ, अब समझी तुम!" चिरईबाई मिली मुझे खैरागढ़ के पास गंडई नामक छोटे से गाँव में। चिरई? ये कैसा नाम? वैसे तो चिरई का असली नाम गणपति। हाँ, गणपति - पर वो तो सदा चिड़िया की तरह चहकती रहती है, इसलिए लोग उसे चिरईबाई कह कर पुकारते हैं। पति शराबी, कामधाम करता नहीं, दो बेटे बिमारी से मर गए। पर फिर भी इसके चहेरे से मुस्कान हटने का नाम

नहीं लेती.. चिरई वैसे तो खेतों में मज़दूरी कर के पेट पालती है, पर बाद में यह जान कर मुझे बड़ा अचरज हुआ कि उसका असली काम छत्तीसगढ़ पुलिस के लिए मुखबिरी करना था। चिरई को मिलकर लगा, जैसे चिरई स्वयं एक अद्‌भुत गीत थी।

एक तरफ तो मुझ जैसी कई शहर-निवासी और ख़ुद को आधुनिक समझने वाली स्त्रियाँ आज भी अपने आपको पूर्णत: अभिव्यक्त करने की आज़ादी महसूस नहीं कर पाती हैं, वहाँ यदि चिरई जैसी आदिवासी स्त्री की ओर दृष्टि करें तो वे इतनी आत्मविश्वास, उमंग एवं खुमारी से भरी नजर आती हैं कि हमारा मन आनंद और आश्चर्य से भर जाता है। आज के दौर में जब समाज में स्त्री के स्थान को ले कर इतनी चर्चा है, चिंता है, जहाँ आज भी सरकार को बार-बार 'बेटी बचाओ बेटी पढाओ' जैसी योजनायें चलानी पड़ रही हैं, वहाँ आदिवासी स्त्री के गीत-संगीत का, और इन गीतों द्वारा उजागर होनेवाले आदिवासी स्त्री के जीवनदर्शन का अभ्यास अपने आप में विशेष महत्व रखता है। गत बारह वर्षों से भिन्न भिन्न आदिवासी क्षेत्रों में भ्रमण करते हुए मेरी मुलाकात चिरई जैसी कई आदिवासी स्त्रीयाँ से हुई है, उनके पास बैठ कर मुझे उनके गीत सीखने का मौका मिला है और इन स्त्रीयों में से कई आज मेरी बड़ी प्यारी सहेलियां भी बन चुकी हैं। इन गीतों को सीखते और गाते समय मैंने बार-बार ये पाया है कि आदिवासी स्त्री के गीत बड़े ही अद्‌भुत हैं; जहाँ आदिवासी स्त्री अपने अस्तित्व, अपनी गरिमा को संजोते हुए, पाँव में घुंघरू बाँध, कभी हाथ में खरताल-लेजिम लेकर तो कभी ढोल बजा कर नाचती-गाती है.. कभी नव-कविता, जागरण-गीत भी रचती है और इन सब को सामाजिक प्रतिकार का एक साधन बनाकर अपने ऊपर हो रहे हर तरह के ज़ुल्म के प्रति धिक्कार भी व्यक्त करती है।

अनुभव चार

आगे चल कर छत्तीसगढ़ में चिरई जैसी ही एक और सुरीली आदिवासी स्त्री सरसती मिली मुझे, जिससे मैंने सुना 'सुवागीत'। बड़ी तेज-तर्रार लय में, चार-चार मात्राओं के विभाजन में गा रही थी सरसती:

"तरीहरी नाना मोर नाना सुवाना, मैं का जानूं मैं का करौं मोरे राम नै हे ओ..
मोर सीता ला ले जात है लंका के रावण हो,
मैं का जानूं मैं का करौं मोरे राम नै हे ओ.. राम नै हे ओ.."

अरे मोरे मित्र सुवा... (सुवा माने तोता) देखो तो, लंका के रावण मोरी सीता को ले जा रहे हैं। पर मोरे राम तो है ही नहीं, अब मैं क्या करूं?

मैंने पाया के कई आदिवासी स्त्री गीतों में रावण का सीता को उठाकर ले जाना, और राम का वहाँ न होना, एक गंभीर रूपक बन कर उभर आता है। और एक ध्यान खींचने वाली बात यह है कि लगभग हर सुवागीत का प्रारंभ 'तरीहरी नाना' इन शब्दों से होता है। 'तरीहरी नाना' जैसे हर सुवागीत की पहचान है। आखिर है क्या ये 'तरीहरी नाना'? एक 'तराना' ही तो है, तननन रीरी नोम तोम दीर दीर, ऐसे अनेक निरर्थक परन्तु गेय शब्दों की रचना कर उन्हें संगीताशय से गठित करना। स्वर एवं लय से अलंकृत करना। यह मार्गी परंपरा निर्मित तराने का कार्य, देशी संगीत-परंपरा भी तो सदियों से कर ही रही है। जैसे कि यहाँ 'तरी हरी नाना' का 'सुवाना' के साथ प्रास बिठा कर, आगे पूरा सुवागीत गाया जा रहा है। सरसती के इस गीत ने पुनः एक बार इस बात की पुष्टि कर दी कि मार्गी एवं देसी संगीत धाराएँ सहेलियों की तरह हाथ में हाथ पिरोये चलती हैं।

अनुभव पांच

सन २०१५ अक्टूबर, हिमाचल प्रदेश। बड़ी ख़ूबसूरत झूरियाँ पड़ी थी जिन में, उन सौ साल के हाथों से कांशीरामजी प्रार्थनाचक्री घूमा रहे थे। बुद्धवंदना गा रहे थे। गा रहे थे? या गुनगुना रहे थे? उन्हें देख मैं दंग रह गई, सौ वर्षीय कंठ से फूटता हुआ वह गुंजन मुझे स्तब्ध कर गया। उनके पाँव छू कर सामने बैठ तो गयी पर मुझे तिननी भाषा न आती थी, न उन्हें मेरी हिंदी समझ आयी। मेरे सौभाग्य से उनका भरापूरा परिवार मेरी मदद के लिए आगे बढ़ा। कांशीराम जी हिमाचल के बौद्ध अनुयायी आदिवासी हैं। उनके परिवार की चारों पीढ़ियाँ एकत्र हुई थीं,

११००० फीट ऊँचाई पर तिनन वैली, हिमाचल प्रदेश के खंगसर गाँव में। मैंने पूछा: "कांशीरामजी, एक पूरी शताब्दी सँजोये हैं आप अपने भीतर, यह बुद्ध वंदना कब सीखी थी आपने, जो आज तक आपको याद है?" कांशीरामजी हँसकर बोले, "याद तो मुझे काफ़ी बातें हैं, पर वह सारी बातें उम्र के इस पड़ाव तक आते आते आपस में घुलमिल गयी हैं, हो सकता है अब मैं तुम्हें जो बात बताऊँ वो जैसे मेरी कोई मनघड़ंत कहानी हो।" कांशीरामजी की यह बात मुझे बड़ी अद्‌भुत लगी, सोचने लगी – क्या मनुष्य की स्मृति को बहुत लंबा खींचा जाए तो वह एक कल्पना सी लगने लगती है? ऐसा कहा जाता है कि हर वाचिक परंपरा प्रमुख रूप से स्मृति के आधार पर ही जीवित रहती है, परंतु क्या मनुष्य की स्मृति में ही कल्पना का अंतर्भाव होता है? क्या यह एक वजह है, जिससे की वाचिक परंपरा अद्‌भुत अनुभवों को, अद्‌भुत आवाज़ों को जन्म देती है? कांशीरामजी के घर पूरा दिन बिता, उन्हें प्रणाम कर आगे की यात्रा के लिए निकली तब मन ही मन लगा, शायद कांशीराम जी कह रहे थे – "मेमरी इज इमेजिनेशन। – स्मृति एक कल्पना है!" और देखा जाय तो सबाल्टर्न इतिहासशास्त्री भी आज कहते ही हैं न कि मनुष्य की स्मृति में समय सिर्फ सीधी रेखा में नहीं चलता, बल्कि चक्राकार और जादुई रूप में भी चलता है, इसी वजह से इतिहास के अभ्यास में स्मृति के साथ-साथ मनुष्य की कल्पना को भी स्थान देना चाहिए।

अनुभव छह

कांशीराम जैसे ही एक और बुज़ुर्ग मिले कुल्लू, हिमाचल प्रदेश में।

"*घरवाळा तेरा मुईये राजेदिया नोकरीया.. ओ जमेदारणीये...!*"

यह पहाड़ी धुन सुनाते हुए ८१ वर्षीय राम कुमार जी के चहेरे पर एक मार्मिक हास्य था। वे बोले: "बेटा, राग साग और पगडी बनाने से नहीं बनते। एक मौसम चल पड़ता है और वे अपने आप बन जाते हैं।" काँगड़ी और कुलबी गीतों के मंझे हुए कलाकार राम कुमार जी मुझसे पूछने लगे, "क्या गीत सिर्फ सात सुरों मे बांधे जा सकते हैं?" मैंने ना मे सिर हिलाया, "तो फिर गाओ, केवल तीन सुरों मे मेरे लिए।" मैंने

एक टूटी-फूटी कोशिश की तो प्रसन्नता से हँसे, उसके बाद जो गायन का सिलसिला शुरू हुआ, वह तीन घंटे तक थमा नहीं। कभी तीन सुर तो कभी पाँच, कभी पूरे सात। ढोलरु मत पूछो, हीर मत पूछो, झुरी मत पूछो, कई-कई लोकगीत सुनाये। मुझे आनंद से सराबोर किया। पूरा जीवन गाते-गाते व्यतीत होने के बाद इस ढलती उम्र में जो संतोष और शांति झलक रही थी उनके चहेरे पर, वह अपूर्व थी। सारी व्याकुलता, सारी पीड़ा, सारी कठिनाई पीछे छोड़, शेष रहे शांति एवं संतोष।

इन सारे बुजुर्गों को सुनकर एक बात का बार-बार अनुभव हुआ, यह सारे कलाकार 'करने' से ज्यादा 'होने' पर भरोसा रखे हुए थे। क्या इसका अर्थ वे क्रियाशील होने पर ज़ोर नहीं देते ऐसा है? हरगिज़ नहीं, परंतु यह सारे आदिवासी एवं लोककलाकार 'लोकमानस' को, 'सामूहिक चेतना' को, एवं उससे उजागर हुई ध्वनि परंपरा को स्वयं से ऊपर रखते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति-केन्द्रित बनने से परम्परा में छिपी एक जादुई सृजनशक्ति का बल क्षीण होता जाता है। खैर, मैं स्वयं एक आत्म-केन्द्रित जीवन ही जी रही हूँ जिस कारण मुझे और मुझ जैसे कईयों को इस बात को अधिक यत्न पूर्वक समझना, टटोलना,परखना होगा।

अनुभव सात

"आजकल सब हिन्दी ही बोलते हैं, कुलबी में बात करने को यहाँ कोई राजी नहीं, फिर मेरी कुलबी के इतने सुंदर-सुंदर शब्द तो कहीं खो जाएँगे न? इसलिए सोचा मैं ही क्यों न गीत रचूँ कुलबी में? लिखना-पढ़ना तो नहीं जानती, पर गाना और बोलना तो आता है मुझे।" कुल्लू की ७७ वर्षीय सरला दीदी चम्बियाल अपनी कहानी बता रही थी: " कभी इस्कूल ना गई, हमारे टाइम लड़कियों को इस्कूल नहीं भेजते थे। छोटी थी तब खेत में घास काटते काटते कुछ गुनगुनाती, सहेलियों ने सुना तो गाँव में जा बोली, सरला को कहो गीत गाये। मुझे लगा मेरा मजाक उड़ा रही है, पर जब पूरे गाँव को मेरा गाना भाया, तब मुझे लगा शायद मेरे अन्दर संगीत है। दादाजी से सीखे पारंपरिक कुलबी गीत - तब से लेकर आज तक गाये जा रही हूँ।"

एक बड़ा पुराना गीत सुनाया सरला दीदी ने: "गंगा एणा जमुना बोला नाईणा हेरे जिंदे जीउआ बलेसरू ए..." (क्या मरकर ही अपनी अस्थियाँ गंगा जमुना पहुंचे यह ज़रूरी है? ज़िन्दा रहते हुए भी तो हम जा सकते है वहाँ, और कर सकते हैं गंगा मैया का दर्शन, बस निडर हो कर एक साथ चलना होगा।) ७७ वर्ष की आयु में भी सरला दीदी की आवाज में एक खनक थी, बड़े ही जटिल स्वर-बंध बड़ी सहजता से गा रही थी दीदी। उनके सुरों के लगाव कुछ इस प्रकार से कम्पित एवं आंदोलित थे कि उन्हें सुनकर लग रहा था कि तुर्कमेनिस्तान या ईरान की कोई धुन सुन रही हूँ। फिर से यह बात सामने आयी: संस्कृतियाँ अपने नक्शे बिलकुल अलग से बनाती हैं, जिनका राजकीय नक्शों से नाता हो ही, यह ज़रूरी नहीं। अगर शास्त्रीय संगीत के दृष्टिकोण से सरला दीदी का यह गीत सुना जाए तो उनमें स्पष्ट रूप से भीमपलासी राग जैसी स्वरावली सुनाई दे रही थी। हालाकि सरला दीदी जिस लोक परम्परा में गा रही थी, उसका उद्देश्य किसी राग रूप को उजागर करना हरगिज़ नहीं था। सरला दीदी तो अपनी उत्स्फूर्त, अंदरूनी समझ से ही इतना मंझा हुआ गा रही थी।

अनुभव आठ

इसी कुलबी लोक परंपरा का और एक गीत देखिये:

"*शूणे हो ओ बुधुआ मामा घारटूआ कूण आरा छाशीया देला*
हीका पिठ्ठीरी दरदा आ - मामा घारटूआ कूण आरा छाशीया देला..."

भावार्थ: अरे ओ सुन रहे हो जी? पहाड़ों जंगलों का कष्टमय जीवन और ऊपर से दिनभर के काम और यह मजदूरी। मेरी पीठ में बड़ा तेज दर्द हो रहा है, जरा तेल मल दोगे पीठ पर?

लचीली और सुरीली आवाज में लाल सिंह गा रहे थे, कुल्लू के ही और एक अद्भुत कलाकार। बचपन में गाय-भैंसों को चराते-चराते बाँसुरी बजाने लगे, इनकी माँ हिमाचल प्रदेश का पारंपरिक गीत 'नाटी' गाया करती। उन्हें सुन-सुनकर लाल सिंह भी गाने लगे, धीमे धीमे संगीत मंडलियों में ढोलक बजाने लगे। ढोलक पर थिरकते हाथ, सहजता से

बजती बाँसुरी, और मधुर कंठ। देखते ही देखते लाल सिंह कुल्लू प्रदेश के एक लोकप्रिय कलाकार बन गए। उस दिन वो मुझे हिमाचल प्रदेश के पारंपरिक गीत सुनाते रहे और मैं उन गीतों के स्वर उनको सुनाती रही। ऐसी जुगलबंदी लगभग तीन घंटे चली। मज़े की बात थी कि मैं उनसे कुछ साक्षात्कार करूँ, उससे पहले उन्होंने ही मेरा साक्षात्कार कर लिया। मुझसे मेरी सब जानकारी लेकर फिर बोले, "मैं तो रोजीरोटी के लिए गाता फिर रहा हूँ यहाँ वहाँ, नहीं तो चलता जरूर तुम्हारे साथ तुम्हारी इस अनूठी आदिवासी संगीत यात्रा पर, पर तुम ऐसे अकेली दरबदर भटका मत करो, दुनिया अभी भी मर्दों की है। समझी?"

लाल सिंह की इस बात ने मुझे अपने स्त्री होने पर और एक बार सोचने पर मजबूर कर दिया। एक ओर मुझ जैसी शहर निवासी स्त्री की अपनी कहानियाँ, अपने गीत तो दूसरी ओर मेरी आदिवासी सहेलीयों के गीत - उनकी गाथाएं, ऊपर ऊपर से दोनों अलग-थलग पर फिर भी कितने जुड़े हुए। ये बात तो है कि आदिवासी गीतों के स्वर-लय के साथ साथ इनके अर्थ, आशय और भावस्थिति को समझना भी आवश्यक हो जाता है, तभी हम जान पाते हैं की यह एक ऐसा भावविश्व है जो कि मेरा भी उतना ही है जितना कि मेरी आदिवासी सहेली का। इन गीतों में अक्सर यह देखा जाता है कि स्त्री अपने सुख-दु:ख को गीतों में पिरोकर उसे गा लेती है, किन्तु कभी कभी एक स्त्री के दु:ख का साया इतना बड़ा होता है, कि वो स्त्री पूरे जनमानस पर एक लोक-गाथा बनकर अनगिनत वर्षों तक छायी रहती है।

अनुभव नौ

रानी रूपी की कहानी

"*ए आयो आयो, रूपी ए राणी... कुला फेरुणे जाणा जे...*"

लाहुल के सुखदास जी चिनली भाषा में यह पारंपरिक गीत गाकर रानी रूपी की कहानी सुना रहे थे। लगा; लोक मानस कैसे कैसे अद्‌भुत मिथक गढ़ता है, चंद्राभागा नदी के सूखने की कहानी? मुझे कुछ अचरज सा हुआ,पर सुखदास जी तो बड़ी बुलंदी से गाए जा रहे थे। मैंने पूछा:

'क्या कहानी है?'

सुखदास जी बोले: "एक बार घुशाल गाँव, लाहुल में बड़ा अकाल पडा। अकाल से चिंतित होकर राजा रघुराणा ने चंबा से बाबा अवधूत को बुलवाया। बाबा ने कहा: हे राजा! बलि दो, बलि। किसी अपने की... पशु की... या फिर मनुष्य की... पर बलि दो।

राजा सोचने लगा: अगर मैं अपने वफ़ादार कुत्ते की बलि दूँगा तो मेरे गाँव की चौकीदारी कौन करेगा? और अगर भेड़ की बलि दूँगा तो जाड़े के लिए ऊन कहाँ से आयेगा? बाबा फिर बोला, पानी चाहिए? तो मानुष-बलि दो।

राजा फिर सोच में। सेनापति की बलि देता हूँ तो मेरे राज्य की रक्षा कौन करेगा? अपने बेटे की बलि दूँगा तो इस राज्य का वारिस कौन बनेगा? बेटी की बलि दूँगा तो चम्बे के राजकुमार से उसको ब्याह कर राज बढ़ाने की मेरी योजना का क्या होगा? ओह! अब कौन? अब कौन?

टीटू मैटा नाम से रघुराणा का एक बड़ा ही धूर्त मंत्री था। उसने महल जाकर बड़ी कुटिलता से रानी रूपी को कहा; "रानी माँ.. अकाल पड़ा है। आप के सौभाग्यशाली हाथों से नहर खुदवाना चाहते हैं लोग। चलिए!" रानी रूपी अपने नन्हे बच्चों को सेविका को सौंप निकल पड़ी नहर खुदवाने। जैसे जैसे गढ्ढा गहरा होता गया, रानी उसमें धँसने लगी। शीघ्र ही रानी रूपी को टीटू मैटा की कुटिलता समझ आ गई, उसकी आँखों में पानी भर आया। उसने कहा; "गाड़ो, मुझे यहीं.. जिंदा गाड़ो, पर आधा ही गाड़ना... मेरे वक्ष खुले छोड़ना जिससे मेरे बच्चे बिना दूध के न तडपें... मेरे बाल भी ऐसे ही खुले छोड़ना...ताकि उसमे रेंगती जुएँ मेरी बच्ची निकाल सके... काश कि ऐसा हो... मेरी बलि व्यर्थ न हो... आज के बाद घुशाल में कभी अकाल न हो!"

वैसा ही हुआ। रानी की मरते ही वहाँ झरना फूटा, उसके बाद घुशाल में कभी अकाल नहीं पड़ा।"

लोक-गाथा समाप्त हुई पर मैं बेचैन हो उठी। मैंने कहा: "यह अच्छा है.. बाकी के सारे लोगों का कोई विकल्प नहीं, पर रानी का क्या है? बड़ी आसानी से दूसरी मिल जायेगी, हाँ?" इस पर मैंने पाया, गाते-गाते और बोलते-बोलते लाहुल के सुखदास जी रो भी रहे थे।

ऐसी हृदयस्पर्शी गाथाओं को सुनकर यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिवासी एवं लोक गीत-गाथाएं केवल नाचने-गाने, श्रम-परिहार एवं मनोरंजन के लिए नहीं रचे गए हैं, बल्कि इनमें सामाजिक चिंतन-मनन की अपार शक्यतायें समाहित रहती हैं।

अनुभव दस

हिमाचली आवाज़ें एक विशाल ध्वनिपट खोलती हैं आप के समक्ष। अगर आप लाहुल में हैं और तोधपा आदिवासी समूह के साथ कोलोंग गाँव में उनका गान सुन रहे हैं, आप महसूस करेंगे, ऐसे ठन्डे प्रदेश में गाते समय यह समूह कम से मुँह कम खोलते हैं। कम से कम सुरों का उपयोजन करते हैं, कम से कम हिलते डुलते हैं। बड़ी संयत - शांत लय में गायन वादन नर्तन करते हैं तो दूसरी और कांगड़ा में कांगड़ी भाषा के गीत सुन रहे हैं तो आप को उनमें सुरों का बाहुल्य देखने को मिलेगा, उनकी लय भी अधिकतर तेझ तर्रार ही होगी। अपना मुँह पूरा खोल के मुक्त गान करते हैं कांगड़ी आदिवासी। मैंने देखा, कांगड़ा के ६००० फीट ऊँचे नवली नाम के गाँव की चोटी पर एक मंदिर में बैठ गद्दनें (गद्दी समूह की स्त्रियाँ) उन्मुक्त हो गाना-बजाना कर रही थी। पाँच सुरों से बनी इक सारंग सी धुन एकदम तार सप्तक, अर्थात बड़े ऊँचे सुर में गा रही थी, एक अद्वितीय अनुभव।

अनुभव ग्यारह

कोरापुट ओडिशा, जनवरी २०१९ - तिमू और सूबा, ये दोनों मिली मुझे ओडिशा में। इन दो सहेलियों ने एक बड़ा प्यारा गीत सुनाया, "कर्मा.. आ दो.." परबत के दो पार रहनेवाली दो स्त्रियाँ अचानक एक दिन हाट में मिल जाती हैं.. दोनों में दोस्ती हो जाती है। हाट में अच्छा खासा समय बिताने के बाद जब घर लौटने की बेला आती है तो दोनों एक दूसरे के लिए गीत गाने लगती हैं जिसका आशय कुछ इस प्रकार है, "आज तो नसीब से मिल गयी तुम मुझे, पर फिर कब मिलोगी, मुझे तुम्हारी बड़ी याद आयेगी। जल्दी मिलना, पर हाँ... मेरे बिछड़ने पर दु:ख

मत करना।" सुबा और तीमू... यह कोंध आदिवासी समूह की स्त्रियाँ कुवी भाषा में गा रही थीं।

इतना सुंदर, सुरीला गीत। किसी भी अनुभव को, संवेदन को झट से गीत बना लेती है एक आदिवासी स्त्री। इस गीत में जब 'कर्मा दो... कर्मा दो...' ऐसे शब्द सुनाई दिए तो मैंने पूछा इस गीत में 'कर्मा... कर्मा' यह क्या है? तीमू बोली; "कर्मा माने दु:ख... कर्मा आ...दो... माने कि दु:ख मत करना!" उनके अद्‌भुत गीत रिकॉर्ड कर जब मैं निकली तब तीमू ने मेरा हाथ अपने हाथ में ले कर कहा 'कर्मा आ दो...'

जैसे-जैसे मेरी आदिवासी संगीत यात्रा आगे बढ़ी, और पूरे देश में फैली, ऐसे कई और अद्‌भुत संगीतानुभवों ने मेरी झोली भर दी। मैं कृतार्थ हुई।

अनुसरण

"इससे कुछ फ़र्क नहीं पड़ता कि हमारी सरकार कितनी भ्रष्ट, लालची और हृदयहीन है, हमारे निगम, हमारी मीडिया, हमारे धार्मिक और धर्मार्थ संस्थान कितने ही भ्रष्ट क्यों न हो जाएँ, संगीत तब भी शानदार ही रहेगा।" - कर्ट वोनेगत, 'अ मैन विदआउट अ कंट्री'[२]

जिन्होंने मुझे सर्वप्रथम आदिवासी की अनोखी प्रज्ञा का दर्शन जिन्होंने करवाया वो मेरी आदिवासी संगीत यात्रा के पथ-दर्शक; प्रोफेसर गणेश देवी इन्होने 'पीपल्स लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' के भव्य भाषा-प्रकल्प में बताया है कि यह देश आज भी ७८० भाषाएँ बोलता है।[३] देवी सर की यह बात सुनकर समझ में आता है कि हर भाषा बोलने वाला समाज, उसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति, और अनोखा संगीत, गर मैं प्रत्येक समूह के पास रहकर उनका केवल एक गीत भी सीखना चाहूँ तो भी मेरा एक जनम पर्याप्त नहीं। इसका अर्थ क्या हुआ? एक अधूरापन लेकर ही मुझे इस संगीत यात्रा से रुखसत होना होगा? पर फिर सोचती हूँ - यह अधूरापन ही तो है, जो मुझे गति देता है और निरंतर चलते रहने का बल भी। ख़ूबसूरत है राह इतनी, कि मंज़िल को कभी न पाऊँ मैं। यह वही राह है, जो मेरे अन्यथा उदासीन और एकसुरे से

जीवन को नए आयाम और आशय प्रदान करती रहती है।

मेरे समूचे अस्तित्त्व की इकाई को बदल देने वाली इस राह पर चलते हुए कई बार मुझसे पूछा जाता है, आप बरसों से आदिवासियों के साथ जुडी हैं। आदिवासियों के साथ मिल कर उनके गीत गा रही हैं, आदिवासी संगीत के बारे में बोल रही हैं, लिख रही हैं, क्या आपको लगता है यह सब करके आप उनको 'एम्पॉवर' कर सकेंगी? आगे ला पाएंगी? आखिर सार क्या है आपके इस काम का? ऐसे प्रश्न सुनकर हँसी और ग्लानि दोनों एक साथ महसूस होती हैं। फिर भी मैं बार-बार सभी प्रश्नार्थियों को उत्तर देती रहती हूँ... "सार? यदि आप एक ही वाक्य में उत्तर चाहते हैं तो मैं दोबारा वही कहूँगी: "आदिवासी संगीत भी संगीत ही तो है... एक कला, जिसका अपना शास्त्र है, अपने सिद्धांत; और मेरा यत्न है अपने आदिवासी मित्रों के द्वारा बताये हुए इस कला एवं शास्त्र विचार को विश्व के समक्ष प्रस्तुत करना।" और जहाँ तक आदिवासियों को 'आगे' लाने की बात है, तो मैं होती कौन हूँ आदिवासियों को 'आगे' लानेवाली? वे पहले से ही बहुत आगे हैं मुझसे। उनका जीवन जीने का ढंग हो, या जीवन-दर्शन, मैं बहुत कुछ सीखती रहती हूँ अपने आदिवासी मित्रों से। और आदिवासी संगीत का यह कार्य, या फिर यह शोधन एवं दस्तावेजीकरण मैं किसी को उपकृत करके एक दृश्य-अदृश्य सत्ता हासिल करने के लिए नहीं कर रही हूँ, बल्कि इसलिए कर रही हूँ क्योंकि मैं अपने अस्तित्व को कई स्तर पर आदिवासी अस्तित्व से जुड़ा पाती हूँ। फ़िलसुफ़ ख़लील जिब्रान कहते हैं, इंसान की ज़िन्दगी में दान-पुण्य जैसा कुछ होता ही नहीं। हर काम इंसान ख़ुद की ख़ुशी के लिए ही करता है। मैं भी अपनी ख़ुशी ढूँढ़ते ढूँढ़ते ही इस मकाम तक पहुँची हूँ। इससे आगे यदि कोई कोशिश जारी है, तो वह है ख़ुद को एक बेहतर इंसान बनाने की, और आदिवासी की अनोखी प्रज्ञा से और गहराई से जुड़ने की।

इस अनोखी प्रज्ञा ने मुझे कई नए आयाम दिखाए हैं। एक ऐसा ही आयाम है आदिवासी संगीत लेखन का - लिखाई का। जहाँ पर मुझ जैसी एक छोटी सी गायक कलाकार आदिवासी विश्व में बटोरे हुए विशाल अनुभवों को, गीतों को, सुरों को, कागज़ पर उतारने के लिए

प्रेरित हुई। कितना अंतर है गाने में और लिखने में? कभी कभी लगता है कि इतना जितना कि धरती और आकाश में... पर फिर सोचती हूँ, गर आज इस पड़ाव पर मुझे लिखना है, तो लिखना है... क्या पता, कल शायद मेरी इस यात्रा को और एक नया आयाम मिल जाय। नए नए आयामों से मिलवाने वाली इस अनोखी यात्रा में हर कदम पर संत मीरा बाई का एक पद मेरा साथ निभाता आया है:

"केम करिए रे अमे, दव तो लाग्यो रे डूंगरीये .. हालवा जइये तो अमे हाली नव शकिए.. बेसी रहिये तो अमे बळी मरिये.. दव तो लाग्यो रे डूंगरीये.. मीठा ते जळ नां अमे रे माछ्लां.. खारा रे समदरिये केम जिवीये.. दव तो लाग्यो रे डूंगरीये..."[४] – मीरा बाई

मीरा कहती हैं:

हाय री, मैं क्या करूं?
पर्बत फैली दावानल
हिलना चाहूँ, हिल न सकूँ
बैठी रहूँ जो, जल-जल मरूं
हाय री, मैं क्या करूं?
मीठे जल की नन्ही मछलिया
खारे समदर डूब मरूं!
हाय री, मैं क्या करूं?

जानती हूँ, आज विश्व भर में चारों ओर फैली दावानल को चीरते हुए अपनी इस यात्रा को कायम रखना है, तो मुझे पर्वत की धांह से अविरत बहती हुई एक नदिया की तरह शीतल होना होगा, प्रवाही होना होगा। और मेरा विश्वास है कि आदिवासियों से मिले निस्सीम प्रेम, मित्रों के सहयोग एवं बड़ों के आशीर्वाद के चलते यह अद्‌भुत संगीत यात्रा आगे बढ़ती ही रहेगी।

सन्दर्भ:

१) The only source of knowledge is experience. - Albert Einstein https://www.ipl.org/essay/Albert-Einstein-The-Only-Source-Of-Knowledge-PJ62ZWXAQU

२) "No matter how corrupt, greedy, and heartless our government, our corporations, our media, and our religious & charitable institutions may become, the music will still be wonderful."- Kurt Vonnegut–A man without a country
https://www.edupou.com/torn-out-pages/tag/Kurt+Vonnegut

३) "India has a fascinating diversity of languages unlike anywhere else in the world, with 780 languages reported in our volumes and maybe another 100 or so which we were not able to report. So it is like having about 900 living languages in a country, which is very exciting news." https://indianexpress.com/article/news-archive/print/india-speaks-780-ways/

४) मीरा भजन – https://www.lokdayro.com/category/gujarati-artist/(1)narayan-swami/bhajan-lyrics/119.php

संदर्भ सूची
(Bibliography)

आलेख (Articles) :

- Banerjee, Prathama. "Culture/Politics: The Irresoluble Double-Bind of the Indian Adivasi." *Indian Historical Review* 33, no. 1 (2006):
- Bor, Joep. "The rise of ethnomusicology: sources on Indian music c. 1780-c. 1890." *Yearbook for Traditional Music* 20 (1988): 51-73.
- Rice, Timothy. "The ethnomusicology of music learning and teaching.'In *College Music Symposium*, vol. 43, pp. 65-85. College Music Society, 2003.
- Mithen, Steven, Iain Morley, Alison Wray, Maggie Tallerman, and Clive Gamble. "The Singing Neanderthals: The Origins of Music, Language, Mind and Body", by Steven Mithen. London: Weidenfeld & Nicholson, 2005. ISBN 0-297-64317-7 hardback£ 20 & US $25.2; ix+374 pp.*Cambridge Archaeological Journal* 16, no. 1 (2006): 97-112.
- Neuman, Daniel. "Towards an Ethnomusicology of Culture Change in Asia." *Asian Music* 7, no. 2 (1976): 1-5.
- Rice, Timothy. "Toward the remodelling of ethnomusicology." *Ethnomusicology* 31, no. 3 (1987) : 469-488.
- Chatterji, Roma. "The category of folk." *The Oxford India Companion to Sociology and Social Anthropology* 1 (2003) : 567-97.
- Chhotaray, Sharmila. "Book Review: Roma Chatterji. 2009. Writing Identities: Folklore and Performative Arts of Purulia, Bengal." 2014: 156-158.
- Crowley, Tony. "Bakhtin and the history of the language." *Bakhtin and cultural theory* 2 (1989).

- Golden, Michael. "On music, interconnection, and consciousness." In *Music and Solidarity*, pp. 49-64. Routledge, 2017.
- Tilche, Alice. "A forgotten adivasi landscape: Museums and memory in western India." *Contributions to Indian Sociology* 49, no. 2 (2015): 188-215.
- Deo, Aditya Pratap. "Of Kings and Gods: An Archive of Sovereignty in a Princely State" in Gyanendra Pandey (ed), Unarchived Histories: The Mad and the Trifling in the Colonial and the Postcolonial World. New York Routleldge 2014

पुस्तके (Books) :

- Herbert Read. *The Meaning of Art*. Faber & Faber Ltd, 1951
- Ashok Da. Ranade. Perspectives on Music – Ideas and Theories. Promila & Co, Publishers in association with Bibliophile South Asia, 2008
- Devy, Ganesh N. *Painted words: an anthology of tribal literature*. Penguin Group USA, 2002.
- Bruno Nettle and Philip. V. Bohlman, eds. *Comparative Musicology and Anthropology of Music: Essays on the history of ethnomusicology*. University of Chicago Press, 1991
- G. N. Devy, Geoffrey V. Davis, K. K. Chakravarty eds. *Performing Identities: Celebrating Indigeneity in the Arts*. Routledge, 2015
- Sims, Martha, and Martine Stephens. *Living folklore: An introduction to the study of people and their traditions*. University Press of Colorado, 2011.
- Banerjee, Prathama. "Politics of Time." Oxford University Press, 2006.
- Bakhle, Janaki. *Two men and music.* Orient Blackswan, 2006.
- Devy, Ganesh, Geoffrey V. Davis, and Kalyan K. Chakravarty. *Indigeneity: culture and representation*. Orient Blackswan, 2008.
- Nemade, Bhalchandra. "Nativism (Desivad)." IIAS, (2010).
- Chakravarty, Kalyan Kumar, ed. *Tribal Identity in India: Extinction Or Adaptation!*. Indira Gandhi Rashtriya Manav Sangrahalaya, 1996.
- Mukharji, Ram Satya. *Indian Folklore*. Sanyal, 1904.
- Muthukumaraswamy, M.D., ed. *Voicing folklore: Careers, concerns and issues: A collection of interviews.* NFSC www. indian folklore. org, 2002.

- Bhattacharya, Dilip. *Musical instruments of tribal India.* Manas Publications, 1999.
- Nettl, Bruno. *The study of ethnomusicology: Thirty-three discussions*. University of Illinois Press, 2015.
- Pasayat, Chitrasen. *Tribe, Caste, and Folk Culture.* Rawat Publications, 1998.
- Atal, Yogesh. *Indian Tribes in Transition: The need for reorientation.* Taylor & Francis, 2015.
- Ranade, *Ashok On Music and Musicians of Hindostan*. Promila & Co, Publishers 1984.
- Chatterji, Roma. "Writing identities: Folklore and the performing arts of Purulia." 2009.
- Sharma, Urmila, ed. *Indian Aesthetics and Musicology: (the Art and Science of Indian Music)*. Amnaya - Prakasana, 2000.
- Ranade, Ashok Damodar. *Indology and Ethnomusicology: Contours of the Indo-British Relationship.* Promilla & Company, 1992.
- Hannula, Mika, Juha Suoranta, and Tere Vadén. "Artistic research methodology." New York: Peter Lang 2014.
- Said, Edward W. *On late style: Music and literature against the grain.* Pantheon, 2006.
- Adorno, Theodor. "Night Music: Essays on Music, 1928–1962, edited by Rolf Tiedemann and translated by Wieland Hoban." London: Seagull 2009.
- Nelson, Robin. *Practice as research in the arts: Principles, protocols, pedagogies, resistances*. Springer, 2013.
- Ramanujan, Attippat Krishnaswami. *The collected essays of AK Ramanujan*. OUP India, 2004.
- Massey, Reginald, and Jamila Massey. *The music of India*. Abhinav Publications, 1996.
- Deva, Bigamudre Chaitanya. *Indian music.* Taylor & Francis, 1995.
- Zarrilli, Phillip B. "Chandralekha: Woman Dance Resistance." 1997: 141-144.
- Vatsyayan, Kapila. "Plural Cultures, Monolithic Structures." *India International Centre Quarterly* 29, no. 3/4 2002: 95-113.
- Vatsyayan, Kapila. *Bharata The Natyasastra*. Sahitya Akademi, 1996.
- Vatsyayan, Kapila. *The square and the circle of the Indian arts*. Abhinav Publications, 1997.

- Singh, Kumar Suresh. "People of India: an introduction." 1992.
- Patnaik, Nityananda. *Folklore of tribal communities.* Gyan Publishing House, 2002.
- Thakur, Devendra, and D.N. Thakur. "Tribal women:(tribal life in India-6)." 1996.
- Vidyarthi, Lalita Prasad, and Binay Kumar Rai. *The tribal culture of India*. Concept Publishing Company, 1977.
- West, Harry G. *Ethnographic sorcery*. University of Chicago Press, 2008.
- May, Elizabeth. *Musics of many cultures: An introduction*. Univ of California Press, 1983.
- Bakhle, Janaki. *Two men and music: nationalism in the making of an Indian classical tradition.* Oxford University Press on Demand, 2005.
- Mithen, Steven, Iain Morley, Alison Wray, Maggie Tallerman, and Clive Gamble. "The Singing Neanderthals: the Origins of Music, Language, Mind and Body", by Steven Mithen. London: Weidenfeld & Nicholson, 2005. ISBN 0-297-64317-7 hardback £ 20 & US $25.2; ix+ 374 pp. *Cambridge Archaeological Journal* 16, no. 1 2006: 97-112.
- Chakrabarty, Dipesh. *Provincializing Europe: Postcolonial thought and historical difference*. Princeton University Press, 2009.
- Devy, G.N., ed. *People's linguistic survey of India*. Orient Blackswan, 2014.
- Laurence, Felicity, and Olivier Urbain, eds. *Music and solidarity: Questions of universality, consciousness, and connection.* Vol. 1. Transaction Publishers, 1999.
- Schechner, Richard. *Between theatre and anthropology*. University of Pennsylvania Press, 2010.
- Mohanty, Jitendranath. "The self and its other: Philosophical essays." 2000.

टिप्पणियां
(Endnotes)

- Major sources of this monograph are the ethnographic references and empirical data collected by the author herself between 2010 to 2020 in various tribal belts of India- – इस विनिबंध का मुख्य सन्दर्भ स्त्रोत लेखक द्वारा २०१० से २०२० के बीच किया गया आदिवासी संगीत का दस्तावेजीकरण है।
- Chord Structures @ Western Musical Notes for Indian Scales are written by Dr. T.C. Kaul, Himachal Pradesh University, Shimla- – पाश्चात्य कोड्स का लेखन डॉ. टिंकू कॉल, हिमाचल प्रदेश यूनिवर्सिटी, इन्होने किया है।
- English quotes used in this monograph are translated with the support of Google Translator by the author, and some translation support has been given by Dr- Rama Shanker Singh, Ambedkar University, New Delhi – अंग्रेजी उद्धरण गूगल अनुवादक की सहायता से अनुवादित किये गए हैं, और इसमें कुछ सहायता डॉ. रमाशंकर सिंह – आंबेडकर यूनिवर्सिटी, इनसे भी मिली है।
- Photo Credit & Author's personal collection, Bhasha Research and Publication center and Adivasi Academy, Tejgadh & Gujarat – फोटो क्रेडिट : लेखक का व्यक्तिगत संग्रह, भाषा रिसर्च वड़ोदरा एवं तेजगढ़ आदिवासी अकादमी, गुजरात
- Copy-editing of this monograph has been done by Dr. Priya Singh and Dr. Rama Shanker Singh – इस विनिबंध का कॉपी संपादन डॉ. प्रिया सिंह एवं डॉ. रमाशंकर सिंह इनके द्वारा किया गया है।

कंवाट मेला गुजरात

कज़ाल वादन पाणिया आदिवासी

कुवी कोंध आदिवासी स्त्रीयाँ

गोंड आदिवासी गुरु शेरसिंह आंच्ला बस्तर

घांसी आदिवासी झारखण्ड

छंग पीते हुए तोधपा आदिवासी हिमाचल

छत्तीसगढ़ी झांझ बजाते हुए प्राची

जौनसारी ढोल

जौनसारी भाला नृत्य

तीवा आदिवासी आसाम

थुड़ी वाद्य केरला

नेपाली समाज आसाम

पंडो आदिवासी के साथ

भिलाला आदिवासी मध्य प्रदेश

मिशिंग आदिवासी तोरावती जी के साथ

राजगोंड आदिवासी समूह तेलंगाना

राठवा आदिवासी नृत्य

राठवा भील आदिवासी पेही वादन

राठवा भील ढोल वादन

राठवा भील पेहो वादन

राठवा भील होली नृत्य

लंबाडा समाज आदिलाबाद

सुतिया आदिवासी आसाम

सोनवाल कचारी समूह आसाम

पिठोरा पेंटिंग

बेनीने सासेरी घणी दूर रे...

बेनी ने सासेरी घणी दूर रे वाटे दिवस उगसे
बेनी ने मातानो घणो लाड रे वाटे दिवस उगसे
बेनी ने पितानो घणो लाडरे वाटे दिवस उगसे

बेनी ने सासरी घणी दूर रे वाटे दिवस उगसे
बेनी ने वीरानो घणो लाड रे वाटे दिवस उगसे
बेनी ने भाभीनो घणो लाड रे वाटे दिवस उगसे

भावार्थ –

कन्या की बिदाई के बाद उसके माता पिता उसके विरह की तीव्र वेदनाका अनुभव करते हैं। और जब बेटी को बड़ी दूर के ससुराल में ब्याहा हो, तो उससे मिलना और भी कठीन हो जाता है। यह करूण लग्नगीत इसी भावना को प्रकट करता है, जिसमें कहा गया है कि बेटी का ससुराल इतना दूर है कि रातभर चलकर भी बांट पूरी नहीं होगी, दिन निकल आयेगा बेटी तक पहुंचते! बेटी और मां-बाप के बीच स्नेह का घना संबंध है, भाई-भाभी को भी उससे बड़ा लगाव है, किंतु इन सब से, उनके प्रेम से वंचित हो, बेटी अब बहुत दूर निकल गई है।

सात मात्रा

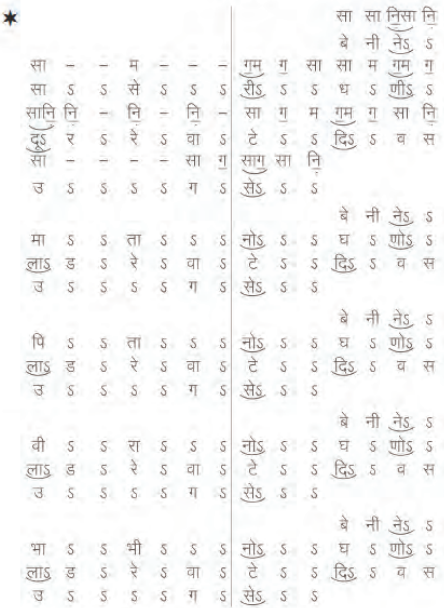

राठवा गीत का स्वर–लेखन – पुस्तक भारतीय आदिम संगीत भाषा रिसर्च